

विद्या का आनन्द

प्रो. वीरसागर जैन

विद्या का आनन्द

लेखक

प्रो. वीरसागर जैन

अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110016

ई-मेल : veersagarjain@gmail.com

मोबाईल : 9868888607

प्रकाशक

कुन्दकुन्द भारती न्यास

18-बी, स्पेशल इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110067

विद्या का आनन्द

लेखक	: प्रो. वीरसागर जैन
प्रस्तावना	: आचार्य श्रुतसागर मुनिराज
प्रकाशक	: कुन्दकुन्द भारती न्यास
अर्थ-सौजन्य	: श्रीमती सविता जैन एवं श्री सुमंत कुमार जैन सैक्टर-56, गुरुग्राम, हरियाणा (भारत)
मुद्रक	:
संस्करण	: 22 जुलाई, 2025 ई., 500 प्रतियाँ आचार्य विद्यानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर
मूल्य	: 20/- रुपये

© सम्पादक के पास सर्वाधिकार सुरक्षित

प्राप्ति-स्थल : कुन्दकुन्द भारती न्यास
18-बी, स्पेशल इंस्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110067

VIDYA KA ANAND

Writer	: Prof. Veersagar Jain
Preface	: Acharya Shrutsagar Muniraj
Publisher	: Kund Kund Bharti Trust
Printer	:
Edition	: 22 nd July, 2025, 500 Copies
Price	: Rs. 20/-

अनुक्रम

1. प्राक्कथन	4
2. प्रस्तावना : आत्मविद्या-विशारद	5
3. आचार्यश्री की शब्द-साधना	7
4. आचार्यश्री का गुणानुवाद	10
5. आचार्यश्री का सबसे बड़ा योगदान	14
6. दृष्टान्ते स्फुटायते मतिः	19
7. कतिपय शिक्षाप्रद संस्मरण	28
8. आचार्यश्री की प्रिय सूक्तियाँ	35
9. आचार्यश्री के अमृत-वचन.....	39
10. सबसे शीतल वस्तु क्या है?	47

प्राक्कथन

विद्या का आनन्द; विद्या अर्थात् ज्ञान; ज्ञान और आनन्द का गहरा सम्बन्ध है। न्यायशास्त्र की भाषा में कहें तो अविनाभाव सम्बन्ध है। ज्ञान के बिना आनन्द नहीं रहता और आनन्द के बिना ज्ञान नहीं रहता। यदि आपके पास ज्ञान है और आनन्द नहीं है तो समझ लेना ज्ञान झूठा है और यदि आपके पास आनन्द है और ज्ञान नहीं है तो समझ लेना कि आनन्द झूठा है। ज्ञान और आनन्द की घनिष्ठ मैत्री है। हम सबको यह बात बहुत ही अच्छी तरह समझना चाहिए।

आचार्य विद्यानन्द मुनिराज सार्थकनामा थे, उन्हें विद्या में आनन्द आता था। वे सदा ज्ञानाभ्यास करते रहते थे और दूसरों को भी ज्ञानाभ्यास की ही प्रबल प्रेरणा देते रहते थे। उनका यह कथन कौन नहीं जानता कि ज्ञान से ही प्रीति करो, ज्ञान में ही संतुष्ट रहो और ज्ञान में ही तृप्त रहो, इसी से तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। इस कथन को वे ‘समयसार’ की गाथा 206 के आधार से बारम्बार सुनाया करते थे, कभी अघाते ही नहीं थे—

एदमिह रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदमिह।
एदेण होहि तित्तो, होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥

इसी प्रकार के और भी अनेक कथन ज्ञान का महत्त्व बताने वाले कहा करते थे, जो आपको इस कृति में अन्दर भी पढ़ने को मिलेंगे।

ऐसे ज्ञानानुरागी आचार्यश्री के सम्बन्ध में मैंने समय-समय पर कुछ लेख लिखे थे, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हो गये थे, किन्तु वे अब नहीं मिलते हैं, इसलिए अनेक मित्रों के आग्रह पर उन्हें संकलित करके यह पुस्तक तैयार की गई है। आशा है कि इससे सभी को ज्ञानाराधना की विशेष प्रेरणा प्राप्त होगी।

—वीरसागर जैन

प्रस्तावना

आत्मविद्या-विशारद

—आचार्य श्रुतसागर मुनिराज

इस ग्रन्थ में आचार्य श्री विद्यानन्दजी मुनिराज के अध्यात्म के आनन्दरूप विद्या अर्थात् ज्ञान-ध्यान का वर्णन किया गया है, उनके अनुभवरूप जीवन के धर्मरूपी अमृत का अनुभव एवं आनन्द के क्षण का वर्णन किया गया है। जैन दर्शन में आत्मा के तीन विशेष भेदों का वर्णन किया गया है— (1) बहिरात्मा, (2) अन्तरात्मा, (3) परमात्मा। इनके मुख्य गुणों में एक गुण आनन्द है। वह आनन्द अशुभ, शुभ एवं शुद्धरूप है। बहिरात्मा जब ध्यान करता है, उसका ध्यान आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान होने से अशुभ रूप ध्यान है। जैसे— हिंसा में आनन्द आता है उसे हिंसानन्दी कहते हैं। मृषा अर्थात् झूठ बोलने में आनन्द आता है उसे मृषानन्दी कहते हैं। चोरी करने में आनन्द आता है उसे चौर्यानन्दी कहते हैं। परिग्रह में आनन्द आता है उसे परिग्रहानन्दी कहते हैं। ये ध्यान मिथ्यास्वरूप हैं एवं अशुभ हैं, किन्तु यही जब धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में परिणत होता है तो शुभरूप एवं शुद्धरूप होता है। उस समय में जो आत्मा में आनन्द आता है वही श्रेष्ठ स्वरूप है, वही विद्या का आनन्द है। उस ज्ञान स्वरूप आनन्द को जैन साधु एवं श्रावक धर्मध्यान में प्राप्त करते हैं। इसी बात को आचार्य श्री विद्यानन्दजी विशेष रूप से अपने उपदेश में दृष्टान्तों के माध्यम से अत्यंत सरल तरीके से बतलाते थे। परमानन्द-स्तोत्र में भी इसी आनन्द का उत्कृष्ट रूप में वर्णन किया गया है, जो इसप्रकार है—

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, निजदेहे व्यवस्थितम्।

ध्यानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम्॥

—परमानन्द-स्तोत्र, 9

आनन्द ही परमात्मा का स्वरूप है और वह आनन्द इस निज शरीर में ही व्यवस्थित है। जो जीव ध्यान से विहीन है वह उस आनन्द स्वरूप को नहीं देखता है, जैसे कि जन्म से अन्धा व्यक्ति जीवन में सूरज को नहीं देख सकता है। स्वयं खुद में खुदा है, खुद से खुदा जुदा नहीं है, पर इस बात को जो नहीं जानता, वह एक नम्बर का गधा है। इसका तात्पर्य यह है कि आनन्द स्वरूप आत्मा स्वयं में ही है, उसे ध्यान के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। आचार्यश्री निरन्तर ऐसे ज्ञान-ध्यान में लीन रहते थे।

परमानन्द अवस्था ध्यानयोग की सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। तीर्थंकर भगवान की अनेक क्रियाओं का वर्णन आचार्यों ने किया है। उसमें एक क्रिया का नाम योगसम्मह क्रिया है, इसमें ज्ञान और ध्यान के संयोग को योग कहते हैं। उस समय उत्पन्न परम आनन्द की पराकाष्ठा को योगसम्मह क्रिया कहते हैं। उस योग से जो अतिशय तेज उत्पन्न होता है वही योगसम्मह क्रिया है। आचार्य विद्यानन्दजी परमयोग-विशारद थे। इस ग्रन्थ में उनकी शब्द-साधना का भी अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन है। वे शब्दों में भी अहिंसा धर्म का अनुभव करते थे। एक बार किसी व्यक्ति ने उनके सामने बोला कि वह किस खेत की मूली है। आचार्यश्री ने कहा— जैन धर्म में मूली को अभक्ष्य कहा है इसलिए इस मुहावरे को जैन धर्म के अनुकूल बनाकर ऐसे बोलो कि बड़े-बड़े तीर्थंकर भी दुनिया को नहीं समझा सके, हम किस पेड़ के पत्ते हैं। इसका मतलब यही है कि कभी अनुचित मुहावरा भी प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। आचार्यश्री ऐसे ही अनेक दृष्टान्त, मुहावरे, नीतिवाक्यों का प्रयोग दिन-प्रतिदिन करते थे। इस ग्रन्थ में दूसरे लेख में आचार्यश्री के गुणानुवाद का वर्णन है, वे हमेशा गुण ग्रहण करते थे। वे ज्ञानी, ध्यानी एवं विद्वानों का सम्मान कराते थे। ‘गुण ग्रहण का भाव रहे’— इस मेरी भावना की पंक्ति को उन्होंने सार्थक किया। आचार्यश्री का महान योगदान यह भी है कि उन्होंने सल्लेखना के महत्त्व को जन-जन तक पहुँचाया, स्वयं भी सल्लेखना लेकर प्रेक्टिकल बताया व श्रेष्ठ साधक बन सल्लेखना से समाधि किया। वे कहते थे— सल्लेखना तब होनी चाहिए जब मृत्यु का कोई प्रतिकार नहीं हो, जब पानी भी हजम न हो— ऐसी स्थिति में भगवान का नाम लेते हुए अपने अंतिम श्वास को छोड़ना चाहिए। आगे के लेखों में बताया है कि आचार्यश्री कुछ दृष्टान्तों के माध्यम से जैनधर्म को सरलता से समझाते थे। कतिपय शिक्षाप्रद संस्मरण में भी ऐसा ही बताया गया है एवं उनके प्रिय सूक्ति-वचन भी इसमें दिये हैं। अंत में आचार्यश्री के प्रिय श्लोकों द्वारा सच्ची शीतलता का वर्णन किया है।

इसप्रकार यह ग्रन्थ सुन्दर, सुपाठ्य एवं सुपाच्य बन गया है। इस ग्रन्थ में आचार्यश्री के अनुभव को माला की तरह पिरोया गया है। इसे पढ़कर आचार्यश्री के सान्निध्य का अनुभव होता है, उनके चरणों में बैठे हैं— ऐसा लगता है। कोई भी पाठक इसको शुरू करता है तो अंत तक पढ़े बिना नहीं रह सकता है। जिसने भी आचार्यश्री के सान्निध्य में थोड़ा भी क्षण बिताया हो, उसके मस्तिष्क के स्मृतिकोश को खोल देता है, वह शांत और आनन्दमय वातावरण का अनुभव करता है। आचार्यश्री स्वयं आनन्द में रहते थे और उनके सान्निध्य में जो आता था, उसको भी असीम शांति व आनन्द का अनुभव होता था। उनके सभी भक्तजन इस ग्रन्थ को पढ़कर निश्चितरूप से अभिभूत होंगे। धर्मानुरागी डॉ. वीरसागर जैन ने इस ग्रन्थ का लेखन आचार्यश्री के सान्निध्य में रहकर ही किया है, उनको एवं समाज को मेरा मंगल आशीर्वाद है।



आचार्यश्री की शब्द-साधना

आचार्य विद्यानन्द मुनिराज की शब्द-साधना उच्च कोटि की थी। वैसे तो वे व्याकरणशास्त्र के भी गहरे विद्वान् थे और उन्होंने स्वयं भी एक ‘शब्द-साधना’ नामक कृति लिखी है, अतः हम उस दृष्टि से भी उनकी शब्द-साधना पर बहुत विस्तार से चर्चा कर सकते हैं, परन्तु अभी हम उस विस्तार में न जाकर मात्र इतना कहना चाहते हैं कि उनकी वह शब्द-साधना उनके व्यवहार में भी बहुत अधिक परिलक्षित होती थी। वे सदा बहुत ही विवेकपूर्वक बोला करते थे, उनका एक-एक शब्द बहुत ही नपा-तुला होता था और उसमें प्रायः सर्वत्र आगम का ठोस आधार होता था। वे आगम छोड़कर एक भी शब्द बोलना पसंद नहीं करते थे। वे अपने सभी शिष्यों/भक्तों/श्रोताओं को भी बारम्बार यही निर्देश/उपदेश देते थे कि वे सदा आगम के आधार से ही या आगम के अनुरूप ही बोलें, कभी भी आगम को छोड़कर एक हुरुफ-पाई भी न बोलें। उनकी यह विशेषता हम सभी को अनुकरणीय है, आजकल बहुत लोग व्याख्यान करते समय भी अनेक मनमानी बातें बोल जाते हैं, अतः हम सबको शिक्षा मिले, हम सब भी एक-एक शब्द का प्रयोग पूर्णतः सजग होकर करें— इस भावना से यहाँ आचार्यश्री की व्यावहारिक शब्द-साधना को कतिपय प्रसंगों द्वारा संक्षेप में स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है।

हम सभी जानते हैं कि आचार्यश्री अपना प्रवचन हमेशा ‘महानुभाव’ सम्बोधन से प्रारम्भ करते थे। एक दिन की बात है, मैंने उनसे पूछा कि आप यह क्या बोलते हैं तो उन्होंने भावपाहुड, रत्नकरंड श्रावकाचार आदि अनेक ग्रन्थों के ऐसे गाथा-श्लोक मुझे दिखाए जिनमें ‘महानुभाव’ शब्द का प्रयोग हुआ है और कहा कि इन्हें ध्यान से देखो। तथा हम मुनि हैं, हमारा कोई भाई-बहिन, माता-पिता आदि नहीं है, अतः हम ऐसा सम्बोधन नहीं कर सकते कि भाइयो, बहिनों, माताओं आदि। यदि करेंगे तो उससे हमें दोष लगेगा और आगम की आज्ञा का उल्लंघन होगा, अतः मैं तो यही आगमानुकूल सम्बोधन ‘महानुभाव’ बोलता हूँ। ‘महानुभाव’ का अर्थ होता है— जिसके भाव महान हैं, विशुद्ध हैं। वैसे भी हम तो जिनवाणी सुनाते हैं और यह जिनवाणी वही सुन-समझ सकता है जो ‘महानुभाव’ हो, चाहे वह बाहर से कुछ भी हो— राजा, सेठ, नौकर, स्त्री, पुरुष आदि; उससे क्या? इस सम्बन्ध में विशेष जानने के लिए मेरा अन्य लेख ‘कतिपय शिक्षाप्रद संस्मरण’ पठनीय है, जो इसी पुस्तक में आगे (पृष्ठ 31 पर) है।

एक बार एक व्यक्ति ने उनके समक्ष बोला कि वह किस खेत की मूली है तो आचार्यश्री बोले— देखो, हम मूली खाते नहीं तो उसका उदाहरण भी क्यों देना? मत दिया करो। मैंने देखा कि आचार्यश्री तो इस मुहावरे को भी कुछ बदलकर इस तरह बालेते थे कि— देखो भैया, बड़े-बड़े तीर्थंकर भी नहीं समझा सके, हम किस पेड़ के पत्ते हैं। तात्पर्य यही है कि हमें कभी अनुचित मुहावरा भी नहीं बोलना चाहिए। मैंने सुना है कि हमारे अनेक जैन बन्धु भी घर की मुर्गी दाल बराबर आदि मुहावरों का प्रयोग करते हैं, परन्तु इससे मासांहार का महादोष लगता है, अतः हमें ऐसा कोई मुहावरा भी नहीं बोलना चाहिए।

एक बार एक व्यक्ति ने कहा कि आज मौसम खराब हो गया तो आचार्यश्री बोले— देखो, मौसम अच्छा हो गया, खराब हो गया— यह राग-द्वेष की भाषा है, इसे नहीं बोलना चाहिए, बोलना ही हो तो ऐसा बोल सकते हैं कि आज मौसम बदल गया। ‘मौसम बदल गया’— ऐसा कहना ज्ञान की भाषा है। ज्ञान की भाषा बोलो, राग-द्वेष की भाषा मत बोलो।

आचार्यश्री कभी भी किसी को यह नहीं कहते थे कि तुम मुझसे मिलने आओ, क्योंकि वे कहते थे कि इससे हमें भारी दोष लगता है, हम किसी को मिलने नहीं बुला सकते। हम मुनि हैं और स्वयं ईर्या समिति पूर्वक पदविहार करते हैं। यदि हम किसी को बुलाएँगे तो वह कार गाड़ी आदि से आएगा और हमें भी उस हिंसा का भागी बनना पड़ेगा। सभी दिगम्बर साधुओं को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम समस्त आरम्भ-परिग्रह का नवकोटि से त्याग कर चुके हैं।

आचार्यश्री एक बात ऐसी भी कहते थे कि देखो, यदि हम किसी व्यक्ति को ऐसा कहें कि तुम मेरे लिए अभिषेक करके गंधोदक लाओ तो इससे भी हमें आरम्भ* का महान दोष लगेगा, शास्त्र में ऐसा कहने वाले मुनि को प्रायश्चित्त का विधान है; क्योंकि साधु सर्व आरंभ-परिग्रह का त्यागी होता है— ‘निरारम्भोऽपरिग्रहः’। इससे ज्ञात होता है कि आचार्यश्री की शब्द-साधना बहुत गम्भीर थी।

हम प्रायः देखते हैं कि जब मुनि विहार करते हैं तो उनके साथ के लोग राहगीरों से ऐसा कहते रहते हैं कि हटो हटो, परन्तु आचार्यश्री कभी भी किसी को ऐसा नहीं कहते थे कि हट जाओ और यदि उनके भक्त कहें तो उनको भी ऐसा कहने को मना करते थे। कहते थे कि देखो, हमें स्वयं बचकर निकल जाना चाहिए, किसी को हटने को नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यदि हमारे कहने से वह वहाँ से हटकर किसी चींटी आदि पर पैर रख देगा तो हमें दोष लगेगा। यदि कोई ताँगेवाला घोड़े को चाबुक मार देगा तो हमें दोष लगेगा। यदि कोई घबराकर एक्सीडेंट कर देगा तो भी हमें दोष लगेगा। अथवा ऐसा भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति हमसे विवाद करने लग

*आरंभः प्राणिपीडाहेतुर्व्यापारः। —आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, 6/15

जाएगा कि मैं नहीं हटूँगा, सड़क पर मेरा भी अधिकार है, तुमने खरीद नहीं ली है, इत्यादि। इससे ज्ञात होता है कि आचार्यश्री कितना अधिक सोच-समझकर बोलते थे।

आचार्यश्री कहते थे कि हमें कभी भी किसी को यह नहीं कहना चाहिए कि यह विषय तुम समझ नहीं सकते, बल्कि कहना हो तो ऐसा कहना चाहिए कि मैं तुम्हें समझा नहीं सकता। यह भी बहुत महत्वपूर्ण बात है।

इसी प्रकार आचार्यश्री कहते थे कि कभी भी गुरु को यह नहीं कहना चाहिए कि यह मेरा शिष्य है; हाँ, शिष्य ऐसा कह सकता है कि ये मेरे गुरु हैं।

आचार्यश्री एक बात यह भी बारम्बार कहते रहते थे कि जिसप्रकार सीमा पर सैनिक के हाथ में सदैव शस्त्र रहता है, एक क्षण भी नहीं छूटता, यदि छूट जाए तो समझो वह गया काम से, उसीप्रकार साधु के हाथ/मुख में हमेशा शास्त्र रहना चाहिए, एक क्षण भी नहीं छूटना चाहिए, यदि छूट जाए तो समझो वह गया काम से। इससे ज्ञात होता है कि वे आगम से पूर्ण प्रतिबद्ध थे और एक-एक शब्द जिनागम के आलोक में ही बोलना पसंद करते थे।

आचार्यश्री के प्रवचनों की एक और बड़ी विशेषता यह थी कि वे हमेशा संक्षिप्त एवं सारगर्भित ही बोलते थे, कभी भी लम्बा चौड़ा नहीं बोलते थे, कहते थे कि भाषण हमेशा गन्ने जैसा होना चाहिए, बाँस जैसा नहीं। बाँस जैसा भाषण लम्बा होता है, पर उसमें बिलकुल रस नहीं होता, फाँस ही फाँस होती है; जबकि गन्ने जैसा भाषण छोटा होता है, पर उसमें कूट-कूट कर रस भरा रहता है, खूब चूसो फिर भी खत्म नहीं होता, थूकने के बाद भी मक्खी-चींटी को भोजन मिल जाता है।

आचार्यश्री कभी अपने विषय से भटकते भी नहीं थे, अपने विषय को क्रमबद्ध तरीके से सांगोपांग प्रस्तुत करते थे। वे कहते थे कि हमें हमेशा ‘अनुवीचि भाषण’ करना चाहिए, कभी भी अपने विषय से भटकना नहीं चाहिए, पूरी तरह उससे बँधा रहना चाहिए। ‘अनुवीचि’ का अर्थ होता है— अनु+वीचि = जलतरंग के अनुसार। जिस प्रकार जल की तरंगें सब एक के पीछे एक आती जाती हैं और किनारे तक लगती जाती हैं, उसी प्रकार वक्ता को अपना विषय क्रम-क्रम से आगे बढ़ाते हुए पूर्ण करना चाहिए।

आचार्यश्री मूलाचार, सुदृष्टितरंगिणी आदि ग्रन्थों के आधार पर यह भी अनेक बार कहते थे कि हमें कभी भी राज्य, सम्प्रदाय, जाति, वर्ग, पंच आदि के विरुद्ध नहीं बोलना चाहिए। अन्यथा स्वयं की धर्म साधना के साथ-साथ पूरे समाज पर भी भयंकर संकट उत्पन्न हो जाएगा।

आचार्यश्री की ऐसी शब्द-साधना को समझकर हम सबको भी अपने जीवन में आगमानुकूल बोलने की कुछ प्रेरणा अवश्य ग्रहण करना चाहिए। ❖❖

आचार्यश्री का गुणानुवाद

भारतीय संस्कृति में वस्तुतः कोई व्यक्ति, जाति, वर्ण, लिंग, उम्र आदि पूज्य नहीं होते, अपितु गुण ही पूज्य होते हैं, जैसा कि कहा भी है—

“गुणाः एव गुणिषु पूजास्थानं न च लिंगं न च वयः।”

—भवभूति, उत्तररामचरित, 4/11

अर्थात् गुणीजनों में भी वस्तुतः उनके गुण ही पूजा के योग्य होते हैं, उनका लिंग, आयु आदि नहीं।

अतः हमारा ध्यान मुख्यतः गुणों के अन्वेषण और अनुकरण पर होना चाहिए। इसी में हम सबका हित है। तो आइए आज हम आचार्यश्री का गुणानुवाद करते हैं।

आचार्यश्री का मुझे लगभग 24 वर्ष का निकट सान्निध्य प्राप्त हुआ। इस अवधि में मैंने उनमें अनेकानेक गुणों का अनुभव किया, जिनमें से कतिपय प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं—

1. ज्ञानानुराग— आचार्यश्री सचमुच ही ‘विद्यानन्द’ थे, उनको विद्या में अपार आनन्द आता था। वे जब देखो, तब ज्ञान की ही बातें करते रहते थे, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी थे। दिन-रात शास्त्र पढ़ते रहते थे। कहते थे— ‘यावज्जीवमधीते विप्रः’ = जीवन की अंतिम साँस तक पढ़ते रहो। मैं उनके लिए प्रतिवर्ष पुस्तक-मेले से सैकड़ों किताबें लाता था। उनका ज्ञान बहुत ही विशद और व्यापक था। वे धर्म, दर्शन, अध्यात्म ही नहीं, इतिहास, पुराण, ज्योतिष, न्याय, व्याकरण, भाषा, साहित्य, संगीत आदि अनेक विषयों का सूक्ष्म ज्ञान रखते थे। उन्होंने अन्य धर्म-दर्शनों के ग्रन्थों का भी गहरा अध्ययन कर रखा था।

2. विद्वदनुराग— आचार्यश्री के ज्ञानानुराग का एक फल यह था कि वे विद्वानों से भी बहुत अधिक अनुराग रखते थे। विद्वानों की नाना प्रकार से सेवा करने में उनको कोई अद्भुत ही आनन्द आता था। वे अपने प्रायः प्रत्येक कार्यक्रम में किसी-न-किसी विद्वान् का सम्बोधन एवं सम्मान कराते थे। वैसे भी वे लगभग हमेशा विद्वानों से ही अधिक ज्ञानचर्चा किया करते थे। यदि वे किसी विद्वान के साथ चर्चा कर रहे होते थे तो उस समय अन्य किसी भी बड़े सामाजिक-राजनीतिक व्यक्ति पर भी ध्यान नहीं देते थे।

3. विनयशीलता— आचार्यश्री स्वयं बहुत बड़े विद्वान् थे, परन्तु फिर भी मैंने देखा कि उनमें अत्यधिक विनयशीलता एवं लघुता भरी हुई थी। वे अक्सर ही किसी-न-किसी विद्वान् को बुलाकर उससे उसका विशेष विषय पढ़ते थे और ऐसे समय में तो उनकी विनयशीलता देखने ही योग्य होती थी। वे प्रायः एक शब्द सुनाया करते थे— ‘नर-कीटंगळो’ अर्थात् हम मनुष्य जाति के कीड़े हैं, क्या अभिमान करना?

4. आगम-प्रतिबद्धता— आचार्यश्री का एक सबसे बड़ा गुण यह था कि वे आगम के प्रति बहुत अधिक निष्ठा रखते थे। प्रत्येक बात आगम के आधार पर ही बोलते-लिखते थे। एक शब्द भी आगम छोड़कर बोलना-लिखना पसंद नहीं करते थे। वे अन्य सबको भी यही प्रेरणा देते थे कि एक हुर्फ-पाई भी आगम छोड़कर मत बोलो, मत लिखो। ‘नामूलं लिख्यते किञ्चित्, नामूलमुच्यते किञ्चित्’ ही उनका एकमात्र ध्येयवाक्य था। उनके अनुसार हमें जब भी बोलना हो, चाहे 5 मिनट ही बोलना हो, पहले आगम से एक गाथा, श्लोक आदि बोलना चाहिए और बाद में उसकी व्याख्या करना चाहिए, यँ ही निराधार कुछ भी मनमाना नहीं बोलना चाहिए। आगम-आधार के बिना बोलनेवाले व्यक्ति उन्हें पसंद नहीं आते थे। यदि आज सब लोगों में उनकी-जैसी आगम-प्रतिबद्धता आ जाए तो समाज के सभी विवाद समाप्त हो जाएँ।

5. उदारता— आचार्यश्री में उदारता भी कूट-कूट कर भरी थी। वे बिना किसी भेदभाव के सभी को अपनाते थे। उनका एक वाक्य सुप्रसिद्ध है— मत ठुकराओ, गले लगाओ, धर्म सिखाओ। आचार्यश्री में संकीर्णता की तो गन्ध भी नहीं थी।

6. समन्वयशीलता— आचार्यश्री अत्यधिक समन्वयशील भी थे। उन्होंने समाज के परस्पर विरोध रखने वाले लोगों को भी प्रेम से मिलकर रहना सिखाया। इस सम्बन्ध में उनका एक वाक्य सुप्रसिद्ध है— सदा सुई-धागे का काम करो, कैंची का काम मत करो।

7. कलाप्रेम— आचार्यश्री बहुत अधिक कलाप्रेमी भी थे। उन्हें विविध कलाओं का स्वयं भी बहुत गहरा ज्ञान था। उनका कलाप्रेम कुन्दकुन्द भारती के भरत चैत्यालय, मानस्तम्भ, कातन्त्र पुस्तकालय, ध्वजादि प्रतीक-निर्माण आदि अनेक कार्यों में प्रतिबिम्बित होता है।

8. राष्ट्रप्रेम— आचार्यश्री में राष्ट्रप्रेम वैसे तो बचपन से ही बहुत अधिक था, क्योंकि वे एक स्वतन्त्रता सेनानी थे, परन्तु बाद में सभी जैनाचार्यों की राष्ट्रिय भावना को समझकर उनका राष्ट्रप्रेम और भी अधिक बढ़ गया। वे राष्ट्रविरुद्ध कार्य करने को बहुत बड़ा अपराध मानते थे। उन्होंने राष्ट्रप्रेम पर अनेक व्याख्यान भी किये हैं और निबन्ध भी लिखे हैं।

9. संगीतप्रिय— आचार्यश्री संगीत के भी विशेष प्रेमी थे। उन्हें स्वयं भी संगीत का सूक्ष्म ज्ञान था। वे प्रतिदिन संगीत सुनते थे। सुनते ही नहीं, स्वयं गाते भी थे। उन्होंने संगीत पर अनेक कृतियाँ भी तैयार की हैं और कैसेट सीडी आदि भी तैयार कराई हैं। उनकी प्रेरणा से आकाशवाणी और दूरदर्शन पर भी जैन भजनों का प्रसारण होता था। उन्होंने जैन संगीत को बहुत ऊँचाई प्रदान की। उनकी प्रत्येक सभा संगीत से ही प्रारम्भ होती थी।

10. स्वास्थ्यप्रेम— आचार्यश्री अपने स्वास्थ्य के प्रति अत्यंत सजग रहते थे। वे कभी भी स्वास्थ्य के विरुद्ध आहार, विहार आदि नहीं करते थे। वे दूसरों को भी स्वास्थ्य का ध्यान रखने की प्रबल प्रेरणा देते थे।

11. बुद्धिचातुर्य— आचार्यश्री बुद्धि से भी अत्यधिक चतुर थे। वे जटिल से जटिल समस्या का समाधान चुटकियों में निकाल देते थे। उन्हें कभी कोई बहका नहीं सकता था, उग नहीं सकता था। इसके अनेक प्रसंग मैंने स्वयं देखे हैं।

12. संयोजनकला— आचार्यश्री किसी भी कार्यक्रम का सुन्दर एवं सुव्यवस्थित संयोजन करने में दक्ष थे। उनका कोई कार्यक्रम कभी असफल नहीं हुआ, अपितु आश्चर्यजनक रूप से नये-नये कीर्तिमान स्थापित करता हुआ विश्व स्तर पर सफल हुआ। वे इसके लिए बहुत अधिक तैयारी किया करते थे।

13. लेखनकला— आचार्यश्री एक उत्कृष्ट लेखक भी थे। उनकी भाषा-शैली बड़े-बड़े विद्वानों को भी प्रभावित करती है। प्रामाणिकता का तो कहना ही क्या? कदम-कदम पर उद्धरण भरे होते हैं। उनकी कृतियाँ ज्ञान-विज्ञान का अद्भुत भंडार हैं। उन्होंने लगभग 50 कृतियों का प्रणयन किया है, जिनका लाभ ‘पिच्छि-कमण्डलु’, ‘आचार्य विद्यानन्द निबन्धावली’, ‘तीर्थकर वर्द्धमान’ आदि को पढ़कर प्राप्त किया जा सकता है।

14. वक्तृत्वकला— आचार्यश्री एक उत्कृष्ट वक्ता भी थे। यह उनकी वक्तृत्व कला का ही विशिष्ट प्रभाव था कि उनकी सभा में पच्चीस-तीस हजार तक श्रोता आ जाते थे। जयपुर, इंदौर, आगरा, बड़ौत आदि स्थानों पर तो स्कूल, दुकान, कार्यालय तक बंद हो जाते थे। सरलता, संक्षिप्तता, प्रामाणिकता, व्यावहारिकता, विषयबद्धता और रोचकता आपके व्याख्यानो की सबसे बड़ी विशेषताएँ थीं।

15. अनुशासनप्रिय— आचार्यश्री अत्यधिक अनुशासनप्रिय थे। उनकी सारी दिनचर्या एकदम अनुशासित थी। उनकी सभा में तो यह अनुशासन और भी अधिक सख्त रहता था। अनुशासनहीन व्यक्ति उन्हें बिल्कुल पसंद नहीं था। वे कहते थे कि सूर्य, चन्द्र, नदी आदि सब अनुशासन में रहते हैं, पूरी प्रकृति अनुशासन में रहती है, तभी शान्ति रहती है, प्रगति होती है। अनुशासनप्रिय होने के कारण आचार्यश्री समय के भी एकदम पाबन्द थे। उनके सभी कार्यक्रम एकदम समय से संचालित होते

थे। कोई बड़े से बड़ा राजनेता आता हो तब भी उसमें कोई शिथिलता नहीं होती थी।

16. करुणा— आचार्यश्री के हृदय में करुणा भी अपार भरी थी। वे कभी भी किसी का दुःख नहीं देख पाते थे। तुरन्त कैसे भी उसे दूर करने में लग जाते थे। न केवल करुणा, अपितु सेवा का भी उनमें बहुत अधिक भाव रहता था। वे रात भर जाग-जाग कर स्वयं अपने हाथ से रोगी आदि की सेवा करते थे।

17. गुणग्राही— आचार्यश्री बड़े गुणग्राही थे। कहते थे कि हमें कभी भी किसी के दोष नहीं देखना चाहिए, चाहे उसमें हजार दोष हों, परन्तु यदि उसमें कोई एक भी गुण हो तो हमें उस एक गुण को ग्रहण कर लेना चाहिए। आचार्यश्री इस सम्बन्ध में एक संस्कृत-श्लोक बहुत सुनाया करते थे कि “व्यालाश्रयापि विफलापि सकण्टकापि, वक्रापि पंकिलभवापि दुरासदापि। एकेन जन्तुरसकेतकी सर्वभावं, एको गुणः खलु निहन्ति समस्तदोषम्।” इसका हिन्दी अर्थ यह है कि केतकी में अनेक कमियाँ होती हैं, उस पर सर्प लिपटे रहते हैं, वह फल-रहित भी होती है, उसमें काँटे भी होते हैं, वह कीचड़ में भी होती है, वह दुरासद (दुष्प्राप्य) भी होती है, इत्यादि, किन्तु एक गन्ध गुण के कारण सबको प्रिय होती है। एक गुण सर्व दोषों को नष्ट कर देता है। इस सम्बन्ध में मेरा अन्य लेख ‘गुण ग्रहण करो’— पठनीय है।

18. अप्रमत्त— आचार्यश्री प्रमाद से कोसों दूर रहते थे। उनकी सक्रियता देखते ही बनती थी। वे बारम्बार ऊपर, नीचे, मंदिर, पुस्तकालय आदि में जा-जाकर शास्त्र-सन्दर्भ देखने-दिखाने का कार्य करते रहते थे। किसी भी कार्य को बाद के लिए टालना उनके स्वभाव में नहीं था।

19. विनोदप्रिय— आचार्यश्री विनोदप्रिय भी थे। वे बड़े ही रोचक दृष्टान्तों का सहारा लेकर हास्य-विनोद करते थे और उससे गूढ़ तत्त्वज्ञान को भी हृदयंगम करा देते थे। उनका विनोद भी अत्यंत सारगर्भित ही होता था। उसमें कोई-न-कोई सन्देश होता ही था। उनके कुछ रोचक दृष्टान्तों को मैंने अलग से ‘दृष्टान्ते स्फुटायते मतिः’ शीर्षक लेख में संगृहीत किया है, जो इसी कृति में आगे है।

20. अध्यात्मप्रेमी— आचार्यश्री उच्च कोटि के अध्यात्मप्रेमी भी थे। ऊपर हमने आचार्यश्री के अनेक गुण बताये हैं कि वे साहित्य, संगीत, कला आदि अनेक विषयों के प्रेमी थे, परन्तु सच पूछा जाए तो वे तो एक मात्र अध्यात्म के ही प्रेमी थे। उनके लिए सबका उद्देश्य एक मात्र अध्यात्म था। वे निरंतर समयसार का ही गहन अध्ययन-चिन्तन-मनन करते रहते थे। उसके बिना एक दिन भी नहीं रहते थे। साहित्य, संगीत, कला आदि सब कुछ उन्हें तभी प्रिय लगता था, जब वह आध्यात्मिक हो। वे बहुत अधिक व्यापक पढ़ते थे, पर मुझे कहते थे कि मैं एक समयसार को छोड़कर दूसरा कुछ नहीं पढ़ता। उनके लिए अध्यात्मविद्या ही सर्वोपरि थी। ❖❖

आचार्यश्री का सबसे बड़ा योगदान

आचार्य विद्यानन्दजी के वैसे तो अनेकानेक योगदान हैं, जिनकी चर्चा कभी पृथक् से करेंगे, परन्तु अभी मेरी दृष्टि में उनका सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने पूरी समाज में एकता और समन्वय का वातावरण बनाया।

आचार्यश्री इस बात को बहुत गहराई से समझते थे कि समाज की उन्नति के लिए पहली अनिवार्य आवश्यकता यह है कि इसमें एकता और सौहार्द का वातावरण बने, छोटी-छोटी बातों पर आपस की खींचतान समाप्त हो।

उनके अनुसार मतभेद हो सकते हैं, परन्तु मनभेद नहीं होना चाहिए। मतभेद होना तो स्वाभाविक होता है, इतने अधिक लोगों में मतभेद की स्थिति तो आती ही है—‘मुंडे मुंडे मतिभिन्ना’, किन्तु मतभेदों के कारण मनभेद की स्थिति नहीं बनने देना चाहिए और समाज में सौहार्द एवं एकता का वातावरण बनाये रखना चाहिए।

तथा मतभेदों को भी हमें बहुत अधिक बुरा नहीं मानना चाहिए, क्योंकि मतभेद तो वास्तव में विकास के कारण होते हैं—‘वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः’। सद्भावनापूर्ण मतभेद सदैव स्वागत-योग्य होते हैं। केवल दुर्भावनापूर्ण मतभेद ही विभाजन और विनाश के कारण बनते हैं।

एकता या संगठन आज हमारे बीच इसलिए भी अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि हम अल्पसंख्यक हैं और अपनी संस्कृति को संगठित रहकर ही बचा सकते हैं, अन्यथा हमारा सब नष्ट हो जाएगा। आज हमारी समाज के हर सदस्य को बहुत ही गंभीरता से एकता या संगठन का महत्त्व समझना चाहिए। उसे तरह-तरह से विचार करना चाहिए कि लोक में सर्वत्र ही संगठन का बड़ा महत्त्व होता है, संगठितों को कभी कोई नहीं छेड़ता है और विभाजित लोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। आचार्यश्री इस बात के लिए अनेक दृष्टान्त और कहानियाँ भी सुनाया करते थे। जैसे कि वे कहते थे कि देखो! मधुमक्खी छोटा-सा जीव है और उसके पास कोई तोप, तलवार आदि कुछ भी नहीं है, परन्तु उससे सब लोग डरते हैं, क्योंकि उनमें संगठन होता है।

अथवा वे एक और अच्छा दृष्टान्त देते थे कि देखो, पानी की एक बूँद यदि अकेली हो तो हवा कहती है कि मैं उड़ा दूँ, मिट्टी कहती है कि मैं सोख लूँ और सूर्य कहता है कि मैं सुखा दूँ; किन्तु यदि वही बूँद समुद्र में रहे तो कोई भी उसे नष्ट नहीं कर सकता। यही समाजशास्त्र है, जिसे हम सबको भलीभाँति समझना चाहिए।

यदि हमारी समाज संगठित होगी तो अल्पसंख्यक होने पर भी हमें विशेष हानि नहीं होगी, क्योंकि संख्या में कम होकर भी हम गुणवत्ता में बहुत श्रेष्ठ हैं। हमारा एक-एक व्यक्ति दस-दस पर भारी है।

समाज में एकता या संगठन की भावना बनाने के लिए आचार्यश्री ने अनेक कार्य किये। जैसे कि— पूरी समाज को एक पंचवर्णी ध्वजा प्रदान की, भगवान महावीर का 2500वाँ निर्वाणोत्सव मनवाया, सभी परम्पराओं के विद्वानों को पुरस्कार देकर सम्मानित किया, इत्यादि। परन्तु इनमें भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य यह है कि उन्होंने इसके लिए अनेक सूत्र-वाक्य बनाकर समाज को प्रदान किये, जिनमें से कतिपय निम्नलिखित सूत्र-वाक्य तो अत्यधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए—

1. मतभेद हो, पर मनभेद नहीं होना चाहिए।
2. मत टुकराओ, गले लगाओ, धर्म सिखाओ।
3. कैंची का काम मत करो, सूई-धागे का काम करो।

पूरी समाज में इन सूत्र-वाक्यों का जादू जैसा असर देखा गया। प्रायः सभी कार्यक्रमों और सभी पत्रिकाओं में ये सूत्रवाक्य दिखाई देने लगे। स्थान-स्थान पर दीवारों और कलेंडरों पर भी लिखे गये। इन सूत्र-वाक्यों से समाज में एकता और समन्वय का अच्छा वातावरण निर्मित हुआ।

सूत्र-वाक्यों के अतिरिक्त आचार्यश्री ने शास्त्रों में से भी इस विषय के अनेकानेक गाथा-श्लोकों को खोजा और फिर उन्हें बारम्बार सभाओं में सुनाया। न केवल सुनाया, वे इनकी बड़ी सुन्दर व्याख्या भी प्रस्तुत करते थे। उनका कहने का अंदाज ही निराला था, जिसे सुनकर सभी प्रभावित हो जाते थे। यहाँ उनकी उस व्याख्या को बताने का अवकाश तो नहीं है, परन्तु उन गाथा-श्लोकों को मैं अवश्य प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है कि यदि हम सभी इन गाथा-श्लोकों पर गंभीरतापूर्वक चिंतन-मनन करेंगे तो हमें अपूर्व लाभ होगा और समाज में भी एकता और समन्वय का सुन्दर वातावरण बनेगा।

इन गाथा-श्लोकों में न केवल आचार्यश्री का, अपितु सभी जैनाचार्यों का सामाजिक दृष्टिकोण अभिव्यक्त हो रहा है, जो अत्यंत उदार है। समाज के सभी कर्णधारों को इन गाथा-श्लोकों पर गम्भीरता से चिन्तन-मनन करना चाहिए, इससे सभी का हित होगा। जैनाचार्यों के वे गाथा-श्लोक मुख्यतः इस प्रकार हैं—

**स्मयेन योऽन्यान्त्येति, धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना॥**

—आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 1/26

अर्थ— जो व्यक्ति घमण्ड में आकर अपने साधर्मी धर्मात्माओं का अपमान करता

है वह वास्तव में अपने ही धर्म का अपमान करता है, क्योंकि धार्मिकों के बिना धर्म नहीं होता।

**स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलष्यते ॥**

—आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरंड श्रावकाचार, 17

अर्थ— अपने सधर्मियों का सद्भावना के साथ एकदम कपट-रहित होकर आदर-सत्कार करना वात्सल्य है, जो सम्यग्दृष्टि का अंग (चिह्न) है।

**उच्चावचजनप्रायः, समयोऽयं जिनेशिनम् ।
नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः॥**

—सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू, 8/365

अर्थ— यह जिनशासन छोटे-बड़े अनेक प्रकार के मनुष्यों पर आधारित है। कोई यह न समझे कि यह एक ही पुरुष पर खड़ा है। क्या कोई विशाल महल एक ही स्तम्भ पर खड़ा रह सकता है?

**एकोदरा पृथक्ग्रीवा, अन्योन्यफलभक्षिणः।
असहन्ता तं विनश्यन्ति, भारुण्डा इव पक्षिणः॥**

—मदनपराजय

अर्थ— जिनका उदर एक है, परन्तु ग्रीवा (मुख) भिन्न-भिन्न होने से एक-दूसरे के फल का भक्षण करते हैं, वे यदि एक-दूसरे को सहन नहीं करेंगे तो भारुण्ड पक्षी के समान दोनों ही नष्ट हो जाएँगे।

**ज्ञानं पूज्यं तपोहीनं, ज्ञानहीनं तपोर्हितम् ।
यत्र द्वयं स देवः स्याद्, द्विहीनो गणपूरणः॥**

—सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू, 8/358

अर्थ— तप-रहित ज्ञान भी पूज्य है और ज्ञान-रहित तप भी पूज्य है। तथा यदि ज्ञान और तप दोनों ही हों तो वह तो परमपूज्य ही है। किन्तु जो ज्ञान और तप दोनों से ही रहित है, वह केवल संघ की संख्या पूरित करने वाला है।

**यथास्वं दानमानाद्यैः, सुखीकृत्य विधर्मणः।
सधर्मणः स्वसात्कृत्य, सिद्धयर्थी यजतां जिनम् ॥**

—पंडित आशाधरसूरि, सागारधर्माभूत, 2/33

अर्थ— अपने साधर्मि की तरह विधर्मि को भी दान-मान आदि देकर सुखी करना चाहिए, जिससे जैनधर्म की प्रभावना का कार्य सिद्ध हो।

**सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, न चापि व्रतदूषणम् ॥**

—आचार्य सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू, 8/22

अर्थ— जैनों को वे सर्व लौकिक विधान स्वीकार हैं, जिनसे सम्यग्दर्शन की हानि न हो और व्रतों में भी दोष न लगे।

जं सक्कदि तं किज्जदि, जं च ण सक्कदि तहेव सद्दहणं।
केवलजिणेहिं भणियं, सद्दहमाणस्स सम्मत्तं॥

—आचार्य कुन्दकुन्द, दंसणपाहुड, गाथा 22

अर्थ— जो तुमसे शक्य हो वह करो और जो शक्य नहीं हो उसकी भी श्रद्धा तो अवश्य करो, क्योंकि श्रद्धा करनेवाला जीव एक दिन अवश्य ही अजर-अमर पद को प्राप्त करता है।

जइ जिणमयं पवज्जह, तो मा ववहारणिच्छह मुएह।
एक्केण विणा छिज्जइ, तित्थं अण्णेण पुण तच्चं॥

—आचार्य अमृतचन्द्र, समयसारटीका, गाथा 12

अर्थ— यदि जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय —इन दोनों ही नयों को मत छोड़ो, क्योंकि एक के बिना तीर्थ का नाश हो जाएगा और दूसरे के बिना तत्त्व का।

धम्मसभा णिप पंच य लोगा य बंधुवग्गाणि।
इण विरुद्धं वच करदि स च सठ लोगणिंद दुखलहो॥

—पं. टेकचन्दजी, सुदृष्टितरंगिणी 100

अर्थ— धर्मसभा, राजा, पंच, समाज के प्रतिष्ठित लोग और बन्धुवर्ग —इनके विरुद्ध बोलने वाला व्यक्ति शठ है, लोकनिन्द्य है और दुःख का पात्र है।

सगुणः निर्गुणः वापि, श्रावको मन्यते सदा।
नावज्ञा क्रियते यस्मात्, तन्मूला धर्मवर्तना॥

—आचार्य इंद्रनंदि, नीतिसार, 91

अर्थ— गुणवान हों या गुणहीन— सभी श्रावक हमेशा मान्य हैं, उनकी कभी भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि धर्म की प्रवृत्ति सभी के मूलाधार से होती है।

नामतः स्थापनातोऽपि, जैनः पात्रायते तस्मात्।
स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैर्भावतस्तु महात्मभिः॥

—पं. आशाधर, सागार धर्माभूत, 2/54

अर्थ— नाम जैन और स्थापना जैन भी उत्कृष्ट पात्र हैं। यदि द्रव्य से और भाव से जैन मिल जाएँ तो वे और भी श्रेष्ठ हैं। हमें सभी को हृदय से स्वीकार करना चाहिए।

जिनधर्मं जगद्बन्धुमनुबद्धमपत्यवत्।
यतीञ्जनयितुं यस्येत्तथोत्कर्षयितुं गुणैः॥

—पं. आशाधर, सागार धर्माभूत, 2/71

अर्थ— जैनधर्म सारे जगत का बंधु है और वह पुत्र की भाँति सभी की रक्षा करता है। जैनधर्म के आराधक यतियों को जन्म देने के लिए और उनके गुणों को बढ़ाने के लिए हमें अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।

ग्रामन्तरोपगतयोरेकामिषसंगजातमत्सरयोः ।

स्यात् सख्यमपि शुनोः भ्रात्रोरपि वादिनोर्नस्यात् ॥

—सिद्धसेन बत्तीसी, 8/1

अर्थ— आश्चर्य है कि गली में बैठे हुए दो कुत्तों में तो रोटी के टुकड़े पर थोड़ी देर के लिए ही वैर-भाव देखा जाता है, परन्तु दो वादियों में प्रेम नहीं दिखाई देता जो एक ही मार्ग के होते हैं, भाई होते हैं।

इसप्रकार हम समझ सकते हैं कि आचार्यश्री ने अपने अनुभव से और शास्त्र से भी पूरी जैन समाज को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए अद्भुत योगदान किया। आवश्यकता है आज उन बातों को भलीभाँति समझने और अपनाने की। आचार्यश्री को इस बात की बड़ी पीड़ा होती थी कि लोग जैन धर्म की अनेकविध प्रशंसा करते हुए भी जैनों की आपसी द्वेषभावना पर व्यंग्य करते थे, जैसा कि कबीर ने कहा है—

पाड़ोसी से रूसना, तिल-तिल सुख की हानि।

पंडित भये सरावगी, पाणी पीवे छाणि॥

अर्थ— जैनी श्रावक लोग वैसे तो पानी भी छानकर पीते हैं, परन्तु अपने ही पड़ोसी साधर्मि से जरा-जरा-सी बात पर झगड़ा करते हैं।

अतः हम सबको परस्पर वात्सल्य भाव से रहने की कला सीखनी चाहिए। यह अत्यंत आवश्यक है, वरना हम समाप्त हो जाएँगे। सम्पूर्ण जैन समाज में एकता और सौहार्द का सुन्दर वातावरण बने—इसी भावना के साथ मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ। ❖❖

ऋषभदेव का पंचसूत्री उपदेश

राजा ऋषभदेव ने जीवनभर तो नाना उपदेश देकर प्रजा को जीवन जीने की सुन्दर कला सिखाई ही, अन्त में जब वे मुनिदीक्षा लेने जा रहे थे तब भी उन्होंने सबको यह पंचसूत्री अन्तिम उपदेश दिया, जो आज हम सबके लिए भी बहुत उपयोगी है—

1. स्वतंत्रता — सब स्वतंत्र रहो, कोई किसी की स्वतंत्रता में बाधक मत बनो।
2. स्वच्छन्दता नहीं — स्वतंत्रता के नाम पर स्वच्छन्दता नहीं होना चाहिए।
3. स्वावलम्बन — सबको अपना अधिकाधिक कार्य स्वयं ही करना चाहिए।
4. स्वसुधार — अपने को बदलो, दूसरे को बदलने की चेष्टा मत करो।
5. सदानन्द — सदा प्रसन्न रहो; कितना भी दुःख आए, मुस्कुराते रहो।

दृष्टान्ते स्फुटायते मतिः

‘दृष्टान्ते स्फुटायते मतिः’¹ यह उक्ति मैंने आचार्य श्री विद्यानन्दजी मुनिराज के श्रीमुख से शताधिक बार सुनी है। यह एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण उक्ति है।

इस उक्ति का हिन्दी-सरलार्थ यह है कि दृष्टान्त का प्रयोग करने पर कोई भी विषय सहज ही सबकी बुद्धि में स्पष्ट हो जाता है।

अनेक बार हमें ऐसा अनुभव होता है कि कोई विषय बहुत प्रयत्न करने पर भी हमारी समझ में नहीं आ रहा होता है, किन्तु अचानक ही किसी समीचीन दृष्टान्त का प्रयोग होने पर वह विषय एकदम ‘हस्तामलकवत्’ स्पष्ट हो जाता है, उसमें तनिक भी कोई शंका नहीं रह जाती। बस, इसे ही कहते हैं— ‘दृष्टान्ते स्फुटायते मतिः’।

प्रतिपाद्य विषय को रोचक, सुस्पष्ट एवं सुग्राह्य बनाने के लिए दृष्टान्त की महती उपयोगिता सभी मनीषियों ने एक स्वर से स्वीकार की है। यद्यपि न्याय-ग्रन्थों में दृष्टान्त को अनुमान का अंग मानने का सख्त निषेध किया गया है² तथापि वहाँ भी बाल-व्युत्पत्ति के लिए दृष्टान्त-प्रयोग का महत्त्व असाधारण रूप से स्वीकार किया गया है।³

तत्त्वज्ञान-हेतु दृष्टान्त की इसी महती भूमिका का अनुभव करते हुए कुन्दकुन्दादि सभी पूर्वाचार्यों ने दृष्टान्तों के सुन्दर-सुन्दर प्रयोग किये हैं। ये प्रयोग सामान्य से सामान्य व्यक्ति को भी कठिन से कठिन सिद्धान्त को सुगमता से हृदयंगम करा देते हैं।

आचार्य श्री विद्यानन्दजी मुनिराज भी दृष्टान्तों के बड़े प्रेमी थे। जैनदर्शन के गूढ़ विषयों को सुगमतापूर्वक समझाने के लिए उनके पास बड़े ही रोचक एवं सटीक दृष्टान्तों का भण्डार भरा था। आचार्यश्री के दृष्टान्त कभी भी हल्के स्तर के नहीं होते थे। बहुत ही संक्षेप में बहुत ही अच्छे दृष्टान्त द्वारा अपनी बात कहने की कला आचार्यश्री की अपनी अनूठी ही थी।

1. आचार्य वादीभसिंहसूरि, क्षत्रचूड़ामणि, 1/86

2. ‘एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्’। —आचार्य माणिक्यनन्दि, परीक्षामुखसूत्र 3/33

3. परीक्षामुखसूत्र 3/42, न्यायदीपिका, 3/38

मैं आज यहाँ आचार्यश्री के प्रिय दृष्टान्तों में से कुछ दृष्टान्तों को सिद्धान्त-सहित स्व-पर-हिताय लिख रहा हूँ—

1. इस लड्डू में एक बूँद विष है-

आचार्य कुन्दकुन्द रचित ‘समयसार’ की 201वीं गाथा में कहा गया है कि जिसे परमाणु मात्र भी राग है, वह चाहे सर्वागमधर हो, फिर भी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है। यथा—

“परमाणुमित्तयं पि ह्र, रागादीणं तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥”

अर्थात् जिस जीव के परमाणुमात्र-लेशमात्र भी रागादिक विद्यमान है वह जीव भले ही सर्वागम का धारी (समस्त आगमों को पढ़ा हुआ) हो तथापि आत्मा को नहीं जानता।

इसे इस दृष्टान्त से अच्छी तरह समझा जा सकता है— एक व्यक्ति ने हमें बहुत पौष्टिक और स्वादिष्ट लड्डू खाने के लिए दिया। उसने उसका खूब वर्णन भी किया— इसमें बादाम भी डाले हैं, पिस्ता भी और मगज भी, इसमें अत्यन्त शुद्ध घी भी बहुत मात्रा में डाला है; इत्यादि-इत्यादि। किन्तु जैसे ही हम लालायित होकर उस लड्डू को खाने को तैयार हुए, उसने धीरे से कहा कि इसमें एक बूँद विष भी मिलाया है।

अब आप बताइए— क्या वह लड्डू आपसे खाया जा सकेगा? नहीं, कदापि नहीं।

जिस प्रकार एक बूँद भी विष हो तो पिस्ता-बादाम-घी आदि पौष्टिक वस्तुओं से युक्त होने पर भी वह लड्डू अभक्ष्य है, त्याज्य है; उसी प्रकार जिसकी श्रद्धा में परमाणु मात्र भी विपरीतता हो, मिथ्यात्व-सहित राग हो, वह सर्व आगम का पाठी होते हुए भी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

2. छोटा-सा रत्न और बड़ा भारी मिट्टी का ढेला-

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार, गाथा 205 में कहते हैं—

“णाणगुणेण विहीणा, एदं तु पदं बहु वि ण लहंते ।
तं गिण्हणियदमेदं, जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥”

अर्थात् ज्ञानगुण से रहित बहुत-से लोग इस ज्ञान-पद को प्राप्त नहीं कर पाते, इसलिए हे भव्य! यदि तू कर्मों से मुक्ति चाहता हो तो इस ज्ञान को ग्रहण कर।

इसके लिए दृष्टान्त इस प्रकार है— एक बार समुद्र के किनारे पड़े एक बड़े भारी मिट्टी के ढेले और एक छोटे से रत्न में प्रतियोगिता ठन गई कि चलो देखें, इस समुद्र

की गहराई को हम दोनों में से कौन पहले नापता है। यद्यपि रत्न ने रागद्वेष-जनक प्रतियोगिता से बहुत बचना चाहा, पर मिट्टी के ढेले को अपनी विशालता का दुरभमान था।

जब वे दोनों समुद्र की गहराई नापने के लिए जल में प्रविष्ट हुये तो मिट्टी का विशाल ढेला तो दो मीटर भी नीचे नहीं उतर सका, पिघल गया, किन्तु वह छोटा-सा रत्न सीधा समुद्र-तल में पहुँच गया।

जिस प्रकार मिट्टी का ढेला बड़ा भारी होकर भी समुद्र-स्वभाव को नहीं नाप सकता और रत्न छोटा होते हुए भी समुद्र-तल में जा पहुँचता है, उसी प्रकार बाह्य क्रियाकाण्ड अधिक हो तो भी उससे आत्मस्वभाव की प्राप्ति नहीं की जा सकती और सहज ज्ञान अल्प हो तो भी उससे आत्मस्वभाव की प्राप्ति हो जाती है।

3. पतले से तार में अनेक वाद्य-यंत्रों की ध्वनियाँ-

‘पंचास्तिकायसंग्रह’ की सातवीं गाथा में कहा है कि सभी द्रव्य परस्पर एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक-दूसरे को अपने में अवकाश देते हैं, परस्पर सदा मिल भी जाते हैं, परन्तु कभी भी अपने निज स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। यथा—

“अण्णोणं पविसंता, दिंता ओगासमण्णमण्णस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं, सगसब्भावं ण विजहंति॥”

इसका दृष्टान्त इसप्रकार है—

समझ लो कि एक संगीत का कार्यक्रम चल रहा है। उसमें कोई गायक एक भजन गा रहा है और अनेक संगीतकार अपने-अपने वाद्ययंत्रों को बजाते हुए उसे मंच पर प्रस्तुत कर रहे हैं। वहाँ माइक से लाउडस्पीकर तक एक पतला-सा बिजली का तार है। बीसों वाद्ययंत्रों की ध्वनियाँ इस एक पतले-से तार में प्रवेश कर रही हैं, एक-दूसरे में मिल भी रही हैं; परन्तु ध्यान से देखिए— कोई भी ध्वनि वास्तव में अपना निज स्वभाव नहीं छोड़ रही है। श्रोता स्पष्ट समझ रहे हैं कि यह हारमोनियम है, यह बाँसुरी है, यह ढोलक है, यह गिटार है, यह पायल है, इत्यादि।

जिस प्रकार अनेक वाद्ययंत्रों की ध्वनियाँ एक तार में प्रवेश करती हैं, एक-दूसरे को अवकाश देती हैं और परस्पर मिलती भी हैं, परन्तु फिर भी अपना-अपना निज स्वभाव नहीं छोड़ती हैं; उसी प्रकार ये सभी द्रव्य परस्पर एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक-दूसरे को अवकाश देते हैं और परस्पर मिलते भी हैं, परन्तु फिर भी अपना-अपना निज स्वभाव कभी नहीं छोड़ते हैं।

4. पापड़ कैसा है-

शास्त्रों में पाँच इन्द्रिय के विषयों को अलग-अलग अनेक दृष्टान्त देकर समझाया

गया है, परन्तु उन पाँचों को पापड़ के एक ही दृष्टान्त से भी भलीभाँति समझा जा सकता है। यथा—

समझ लीजिए कि हम एक पापड़ खा रहे हैं। वह स्पर्शनेन्द्रिय की दृष्टि से कुरकुरा-सा या खुरदरा-सा है, रसनेन्द्रिय की दृष्टि से स्वादिष्ट है, घ्राणेन्द्रिय की दृष्टि से खुशबूदार है, चक्षु इन्द्रिय की दृष्टि से पीला-पीला है और कर्णेन्द्रिय की दृष्टि से उसमें चटर-पटर की भी आवाज आ रही है।

इस प्रकार पापड़ के एक ही दृष्टान्त से भी पाँचों इन्द्रियों के विषय-ज्ञान को आसानी से समझा-समझाया जा सकता है। यही तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक या राजवार्तिक में भी कहीं कहा है— ‘तर्हि सकृत् रूपादिज्ञानम्’। आचार्यश्री इसी की उक्त प्रकार से व्याख्या करते थे।

5. रेडियो सुनना कब सम्भव है-

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक कार्य के होने में पंच समवाय का होना जरूरी है। यथा— स्वभाव, काललब्धि, भवितव्यता, निमित्त और पुरुषार्थ।

इसे हम इस दृष्टान्त से अच्छी तरह समझ सकते हैं— मान लीजिए हम रेडियो सुनना चाहते हैं, परन्तु हमारे पास रेडियो ही नहीं है तो कैसे सुनेंगे? यदि रेडियो है भी, पर बिजली नहीं आ रही है तो कैसे सुनेंगे? रेडियो भी है और बिजली भी आ रही है, परन्तु अभी रेडियो स्टेशन ही नहीं खुला है तो हम कैसे सुनेंगे?

रेडियो भी है, बिजली भी आ रही है, रेडियो स्टेशन भी खुल गया है, पर हमने सही सुई नहीं मिलाई है, स्टेशन ठीक से नहीं लगाया है तो भी कैसे सुन सकेंगे? यदि रेडियो भी है, बिजली भी आ रही है, रेडियो स्टेशन भी खुला है, हमने सुई भी ठीक से मिलाई है, पर हमारे कान ही ठीक नहीं हैं, हम बहरे हैं तो कैसे सुनेंगे?

इस प्रकार, जैसे रेडियो सुनना तभी सम्भव होता है जब उक्त सभी बातें एक साथ मिल जाएँ, एक भी कम हो तो रेडियो नहीं सुना जा सकता; उसी प्रकार कोई भी कार्य तभी सम्भव है जब निमित्त, भवितव्यता, काललब्धि, पुरुषार्थ और स्वभाव—ये पाँचों समवाय मिल जाएँ।

इस प्रकार पाँचों समवायों की सहज मैत्री होती है।

6. रोटी तभी फूलती है-

आत्मशुद्धि-हेतु बहिरंग और अंतरंग— दोनों प्रकार के तप आवश्यक हैं। मात्र बहिरंग या अंतरंग तप ही पर्याप्त नहीं है। उदाहरणार्थ— रोटी तभी फूलती है जब वह बहिरंग-अंतरंग दोनों ओर से ताप प्राप्त करे, मात्र बहिरंग या मात्र अंतरंग ताप से वह नहीं फूल सकती। अंतरंग ताप के बिना मात्र बहिरंग ताप से वह जल जाती

है और बहिरंग तप के बिना अंतरंग तप उसे प्राप्त ही नहीं हो सकता। इसी प्रकार बहिरंग तप के बिना अंतरंग तप हो नहीं सकता और अंतरंग तप के बिना बहिरंग तप मात्र कायक्लेश बनकर रह जाता है।

यहाँ भी यह बात सावधानी से समझने योग्य है कि अन्तरंग-बहिरंग दोनों की मोक्षमार्ग में सहज मैत्री होती है।

7. णमोकार मन्त्र के जाप से असंख्य कर्मों की निर्जरा कैसे होती है-

शास्त्रों में कहा गया है कि णमोकार मन्त्र के जाप से हमारे असंख्य कर्मों की निर्जरा होती है। लोग पूछते रहते हैं कि ऐसा कैसे होता है और प्रायः हम सभी उत्तर देते रहते हैं कि शास्त्रों में ऐसा ही लिखा है, परन्तु आचार्यश्री इस बात को निम्नलिखित उदाहरण द्वारा आसानी से सबके गले उतार देते थे—

जिस प्रकार एक वृक्ष पर एक हजार कौए बैठे हों और कोई बालक उन पर एक छोटा-सा पत्थर फेंके तो उससे वे एक हजार कौए एक साथ उड़ जाते हैं; उसी प्रकार णमोकार मन्त्र के जाप से असंख्य कर्मों की निर्जरा हो जाती है। (अलं काकसहस्रेभ्यो एक एव दृषद् भवेत्। —क्षत्रचूडामणि, 3/51)

अथवा, जिस प्रकार सैंकड़ों सज्जनों की सभा में कोई अशिष्ट व्यक्ति गालियाँ बकने लग जाए तो सभी सज्जन वहाँ से उठकर चले जाते हैं, उसी प्रकार णमोकार मन्त्र के जाप से असंख्य कर्म भाग जाते हैं, उनकी निर्जरा हो जाती है।

8. क्या तुम बिना ब्रेक की गाड़ी में बैठना पसन्द करोगे?

मान लो, एक बहुत सुन्दर कार है, बहुत मँहगी है, उसमें ए.सी., टी.वी. आदि अनेक सुविधाएँ भी हैं, उसकी सीट भी बहुत अच्छी हैं, परन्तु उसमें ब्रेक नहीं है। बताओ, क्या तुम इस बिना ब्रेक की गाड़ी में यात्रा करना पसन्द करोगे?

उत्तर स्पष्ट है कि नहीं, कदापि नहीं। इसी प्रकार संयम-रहित जीवन भी कितना ही सुन्दर और प्रभावशाली हो, परन्तु एक दिन भी जीने योग्य नहीं होता। थोड़ा-सा ही सही, पर जीवन में संयम अवश्य होना चाहिए। संयम-रहित जीवन बिना ब्रेक की गाड़ी के समान बड़ा खतरनाक होता है।

9. जगह होती तो और लड़्डू खा जाता-

एक सेठ था। उसके यहाँ शादी आई तो हलवाई को मिठाई आदि पकवान बनाने के लिए बुलाया। हलवाई ने सोचा कि सेठजी के यहाँ इस शादी में बहुत-से लोग आयेंगे तो बाद में मुझे कुछ खाने को मिले या न मिले इसलिए वह एक लड़्डू बनाकर थाली में रखता और दूसरा अपने मुँह में रखता। इस प्रकार वह लड़्डू पर लड़्डू अपने पेट में डाल रहा था। जब पेट खूब भर गया तो धड़ाम से गिर गया।

वैद्य को बुलाया गया कि कहीं कुछ अशुभ न हो जाए। वैद्य आया, बोला— घबराने की कोई बात नहीं। उसने एक सरसों के दाने के बराबर गोली बना दी और उस हलवाई से कहा कि इसे निगल जाओ, ठीक हो जाओगे। इस पर वह हँसने लगा। वैद्य ने पूछा— ‘क्यों हँस रहे हो?’ वह बोला— ‘यदि सरसों के दाने के बराबर मेरे पेट में जगह होती तो मैं एक लड्डू और खा जाता।’

देखो, मरे जा रहा है फिर भी लड्डू खाने की इच्छा हो रही है। अज्ञानी का असंयम ऐसा ही होता है। संयमी मनुष्य प्रथम तो संसार करता नहीं और यदि करे भी तो उतना ही करता है जो नरकादि न ले जाए। सम्यग्दृष्टि का राग अनन्त संसार का कारण नहीं बनता, क्योंकि उसने संसार के मूल कारण मिथ्यात्व को नष्ट कर दिया है।

10. अंगुली का टेढ़ापन कहाँ चला गया?

‘सन्मत्तिसूत्र’ के रचयिता आचार्य सिद्धसेन सम्राट् विक्रमादित्य के दरबार में नवरत्नों में गिने जाते थे। वे गूढ़-गम्भीर विषय को भी सरलतापूर्वक समझा देने में बड़े दक्ष थे। एक बार की बात— उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का विषय चल रहा था। उन्होंने उसे अपनी अंगुली के माध्यम से इस प्रकार समझाया—

“बताओ, यह अंगुली कैसी है?”

“टेढ़ी।”

फिर उसे सीधी करके पूछा— “अब कैसी है?”

“सीधी।”

“टेढ़ापन कहाँ गया?”

“अंगुली में ही।”

“सीधापन कहाँ से आया?”

“अंगुली में से ही।”

“ठीक है। देखो, अंगुली में टेढ़ापन का व्यय हुआ, सीधेपन का उत्पाद हुआ और अंगुली अंगुली ही रही। टेढ़ापन और सीधापन कहीं बाहर से आया-गया नहीं है, अंगुली की ही पर्याय या अवस्था है। इसी प्रकार जगत् की प्रत्येक वस्तु में प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता रहता है। मूल वस्तु कोई भी कभी न पैदा होती है, न ही नष्ट। उत्पाद-व्यय मात्र उसकी अवस्थाओं में होता है।”

11. आत्मदर्शन तो निर्विकल्प दशा में ही होगा-

एक पानी के बड़े बर्तन में चाँदी का सिक्का गिर गया। बहुत देखने की कोशिश की, पर नहीं दिखा। आखिरकार थोड़ी देर शान्ति से बैठ गये। अब पानी भी शान्त

हो चुका था, अतः अब उसमें वह चाँदी का सिक्का स्पष्ट दिखाई दे रहा था। ठीक इसी प्रकार हम आत्मा के दर्शन तो करना चाहते हैं, पर जब तक हमारे मन में दुनिया भर के संकल्प-विकल्प बने रहेंगे तब तक आत्मा के दर्शन कैसे हो सकते हैं? आत्मा के दर्शन तो तभी हो पाएँगे जब सर्व संकल्प-विकल्पों को छोड़कर शान्त निर्विकल्प होंगे।

12. हम दर्पण देखते हैं या अपना चेहरा?

प्रायः हम सभी दर्पण देखते हैं, परन्तु दर्पण के लिए दर्पण नहीं देखते हैं, अपने चेहरे के लिए दर्पण देखते हैं। जो व्यक्ति केवल दर्पण के लिए दर्पण देखते हैं, उन्हें दर्पण में दिखते हुए भी अपना चेहरा नहीं दिखता।

ध्यान रखें, दर्पण के बिना भी हमें अपना चेहरा नहीं दिखेगा और दर्पण को कैसे भी देख लेने भर से भी अपना चेहरा नहीं दिखेगा। हमें दर्पण देखना होगा और फिर उस समय दर्पण को गौण करके उसमें प्रतिबिम्बित अपने चेहरे को ध्यानपूर्वक देखना होगा, तभी हमें अपना चेहरा दिखेगा और तभी दर्पण देखना भी सफल सार्थक कहा जाएगा।

इसी प्रकार हमें निजात्मा के दर्शन हेतु परमात्मा के दर्शन करने ही होंगे, बिना परमात्मा के दर्शन किए निजात्मा के दर्शन नहीं होंगे। परन्तु परमात्मा के दर्शन कैसे भी कर लेने भर से भी निजात्मा के दर्शन नहीं होंगे, हमें उसमें ध्यानपूर्वक निजात्मा के दर्शन करने का प्रयास करना होगा, तभी निजात्मा के दर्शन होंगे और तभी परमात्मा के दर्शन भी सफल सार्थक कहे जा सकेंगे।

13. धर्मध्यान की क्या उपयोगिता है-

एक बार किसी ने प्रश्न किया— “कर्म का उदय टाला नहीं जा सकता, भगवान या देवी-देवता भी उसे बदल नहीं सकते, फिर पूजा-पाठ-दया-दान-स्वाध्यायादि रूप धर्मध्यान करने की क्या उपयोगिता है?”

उत्तर— जिस प्रकार दाल में मिर्च तेज डल गई हो तो उसे निकाला तो नहीं जा सकता, किन्तु उसमें थोड़ा मीठा डालकर उसे खाया जा सके— ऐसा बनाया जा सकता है। उसी प्रकार कर्म के उदय को तो टाला नहीं जा सकता, परन्तु धर्मध्यान के द्वारा उसे शान्तिपूर्वक सहा जा सकता है, दुःख या व्याकुलता से बचा जा सकता है, नवीन कर्मबन्ध से बचा जा सकता है।

14. भावों से धर्म होता है, क्रिया से नहीं-

तीन स्त्रियाँ थीं— 1. रानी, 2. पिसनहारी, और 3. श्राविका। एक दिन उन तीनों ने ही भोजन नहीं किया, तीनों ही भूखी रहीं। कारण— 1. रानी को भूख नहीं लगी

थी क्योंकि कल का गरिष्ठ भोजन ही नहीं पचा था; 2. पिसनहारी को आज कोई काम नहीं मिल पाया अतः उसके पास भोजन ही नहीं था; 3. श्राविका ने अपने आप स्वेच्छापूर्वक उपवास किया था।

बाहर से देखा जाए तो तीनों स्त्रियों ने समान रूप से भोजन के बिना दिन बिताया है, किन्तु रानी और पिसनहारी की यह क्रिया धर्म नहीं है और श्राविका की यही क्रिया धर्म है। क्योंकि धर्म भावों के द्वारा होता है, मात्र बाह्य क्रिया से नहीं। जब कभी बाह्य क्रिया से धर्म बताया जाए तब भी हमें उस बाह्य क्रिया के पीछे जो आत्मा का विशुद्ध भाव होता है, उसे ही धर्म समझना चाहिए।

15. भय और अभय के स्थान-

शास्त्रों में कहा गया है कि यह अज्ञानी जीव जिन चीजों पर विश्वास करता है वे तो वास्तव में भय के स्थान (कारण) हैं और जिनसे डरता है वे वास्तव में अभय के स्थान (कारण) हैं। यथा—

“मूढात्मा यत्र विश्वस्तः ततो नान्यद् भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः॥”

—आचार्य पूज्यपाद, समाधितंत्र, 29

अर्थ— मूढ़ जीव जहाँ विश्वास करता है उससे अधिक भयास्पद और कुछ नहीं है। तथा जिससे डरता है उससे अधिक अभय का स्थान अन्य कुछ नहीं है।

यह बात पं. दौलतराम कृत ‘छहढाला’ में भी कही गयी है—

“रागादि प्रगट ये दुःख दैन, तिन ही को सेवत गिनत चैन।”
“आतम हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखैं आपको कष्टदान।”

—छहढाला 2/5-6

यह बात बड़ी अटपटी लगती है, आसानी से समझ में नहीं आती; किन्तु आचार्यश्री इसे उदाहरण द्वारा इस तरह सरलता से समझा देते थे—

एक हिरण था। एक दिन वह अपने सुन्दर सींगों को देखकर बहुत खुश हो रहा था और साथ ही अपने कुरूप पैरों को देखकर बहुत दुःखी भी हो रहा था। तभी वहाँ एक शिकारी आ गया। हिरण दौड़कर भागने लगा। शिकारी भी उसके पीछे-पीछे भागने लगा। आगे चलकर एक झाड़ी में हिरण के सींग उलझ गये। हिरण को रुकना पड़ा। किन्तु वहीं पास में एक साधु पुरुष थे, उन्होंने दया करके हिरण के सींगों को झाड़ी में से सुलझा दिया। इतने में ही शिकारी भी आ पहुँचा और हिरण को माँगने लगा। किन्तु उन साधु पुरुष ने उसे ऐसा सदुपदेश दिया कि उसका (शिकारी का) हृदय-परिवर्तन हो गया। उसने आजीवन शिकार का त्याग कर दिया। इसके बाद महात्माजी ने उस हिरण को समझाया— देखो, जिन सींगों को देखकर तुम खुश हो

रहे थे, वे तुम्हारी मृत्यु का कारण बन रहे थे और जिन पैरों को देखकर तुम दुखी हो रहे थे वे तुम्हें बचाने के काम आये। समझे?

ठीक यही दशा हमारी है। हम परिग्रह एवं विषय-भोग सामग्री को सुख का साधन समझते हैं, जबकि उससे बड़ा दुःख का कारण और कोई नहीं है तथा संयम-तप-त्याग को दुःख व कष्ट का साधन समझते हैं, जबकि उससे बड़ा सुख का कारण और कोई नहीं है।

16. जीव की आकुलता व्यर्थ है, भ्रमरोग है

यह जीव परपदार्थों को देख-देखकर सदा आकुलता करता रहता है कि अरे, यह क्या हो रहा है, यह क्या हो गया, यह तो ऐसा हो जाएगा, वैसा हो जाएगा, ऐसा नहीं होना चाहिए, ऐसा होना चाहिए, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे कहूँ, इत्यादि और अनादि काल से ऐसी ही अनन्त आकुलता में अनन्त जन्म-मरण करता फिरता आया है।

किन्तु वास्तव में देखा जाए तो इस जीव की सारी आकुलता व्यर्थ है, क्योंकि जगत् में कुछ भी ऐसा बुरा नहीं घटित हो रहा है जो कि सचमुच आकुलता का कारण हो। जगत् में तो सभी अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा सहित परिणमित हो रही हैं, कोई भी वस्तु अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं कर रही है। यह जीव अपने अज्ञान से, भ्रम से व्यर्थ ही आकुलता कर रहा है। इसका यह भ्रमरोग कैसा है— इसे हम इस उदाहरण से भलीभाँति समझ सकते हैं—

एक बुढ़िया थी, उसे उसके बेटे-बहू एक दिन ज़बरदस्ती सिनेमा दिखाने ले गये। उसने पहले कभी भी सिनेमा नहीं देखा था। सिनेमा देखते समय एक दृश्य ऐसा आया जिसमें बहुत वर्षा हो रही थी। उसे देखकर बुढ़िया बहुत अधिक घबरा गई, चिल्लाने लगी कि अरे मैं तो छत पर बड़ी-पापड़ सुखाकर आई हूँ, मेरे बिस्तर भी रखे हैं, सब खराब हो जाएँगे और वह वहाँ से निकल कर जल्दी-जल्दी भागती हुई घर जाने लगी। रास्ते में सड़क पार करते समय उसका एकसीडेंट हो गया और वह मर गई। यही हाल हमारा है, हम भी अपने भ्रमरोग से महा दुःखी हैं।

17. सब ज्ञान की महिमा है

एक बार उनके शिष्य मुनि कनकोज्ज्वलनंदि (अब आचार्य श्रुतसागर) ने कहा— “गुरुदेव! आपके पास बड़े-बड़े विद्वान्, प्रोफेसर, कुलपति तक सब दौड़े-दौड़े आते हैं, क्या कारण है?” आचार्यश्री का उत्तर महत्त्वपूर्ण है— “सब ज्ञान की महिमा है, ज्ञान बढ़ाओ। आज तो हमारे पास बिना बुलाये आ रहे हैं, कल आप बुलाओगे तब आएँगे और यदि ऐसा ही ज्ञान का ह्रास होता रहा तो फिर बुलाने से भी नहीं आएँगे।” ❖❖

कतिपय शिक्षाप्रद संस्मरण

1. कमण्डलु में भूमण्डल का अर्थशास्त्र

आधुनिक युग के दिगम्बर जैन साधुओं में आचार्य विद्यानन्दजी मुनिराज का विशिष्ट स्थान है। उनकी ज्ञानाराधना बेमिसाल है। एक बार की बात है कि देश के पूर्व प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहनसिंह उनके दर्शन हेतु आये। वे उस समय देश के वित्त मंत्री थे। आचार्यश्री ने ज्ञानचर्चा करते हुए उनसे कहा— “देखो! हमारे कमण्डलु में सम्पूर्ण भूमण्डल का अर्थशास्त्र भरा है।”

“कैसे?”— वित्तमंत्री ने गहरी जिज्ञासा से पूछा।

“इसका आने का द्वार बड़ा है, पर जाने का छोटा; उसी प्रकार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था तभी उन्नति कर सकती है जब उसके आय के द्वार बड़े हों और व्यय के द्वार छोटे। यही कहा भी है—

‘आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुरेव निदर्शनम् ।’

—(आचार्य सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृत, 8/6)

वित्तमंत्री आचार्यश्री के अगाध ज्ञान पर आश्चर्यचकित हो गये। बोले— “लगता है, मैं तो अर्थशास्त्र का विद्यार्थी भर हूँ, गुरु तो आप ही हैं।”

2. गन्ने जैसा भाषण

एक बार आचार्यश्री बोले— “भाषण हमेशा गन्ने जैसा होना चाहिए, बाँस जैसा नहीं।”

मैंने इसके विशेष अर्थ हेतु जिज्ञासा प्रकट की तो उन्होंने समझाया— “देखो, भाषण दो प्रकार के होते हैं— एक बाँस जैसा और दूसरा गन्ने जैसा। बाँस जैसा भाषण लम्बा तो बहुत होता है, पर एकदम रस-रहित होता है; जबकि गन्ने जैसा भाषण छोटा होने पर भी अत्यन्त मधुर रस से परिपूर्ण होता है। हमको सदा गन्ने जैसा ही भाषण करना चाहिए, बाँस जैसा नहीं।”

काश ! हम सभी वक्ता उनके निर्देश पर गम्भीरता से चिन्तन करें और उसे अपने जीव में उतारें।

3. तुम्हारे मन पर बोझ है-

एक बार आचार्यश्री का मंगल विहार हो रहा था। उनके साथ कुछ धर्मात्मा श्रावक भी चल रहे थे। एक व्यक्ति ने कहा— “आचार्यश्री ! आप तो बहुत जल्दी चल लेते हैं। हमसे तो चला ही नहीं जाता है।”

आचार्यश्री ने पवित्र शिक्षा देने के अभिप्राय से कहा— “तुम्हारे ऊपर तीन बोझ हैं— 1. वस्त्रों का, 2. परिवार का और 3. दुकान-मकान का; इसलिए तुमसे चला नहीं जा रहा है। मैं तो निर्भार हूँ। तुम भी ये सब बोझ उतार दोगे तब ठीक से चला जा सकेगा।”

4. श्रोताओं की नाड़ी मेरे पास होती है-

एक बार एक व्यक्ति ने आचार्यश्री से पूछा— “गुरुदेव! प्रायः देखा जाता है कि सभाओं में से श्रोता, बार-बार रुकने की प्रार्थना करने पर भी एक-एक करके जाने लगते हैं, जब सभा समाप्त होती है तो कुछ ही लोग शेष रह जाते हैं और वे भी बहुत थक जाते हैं; परन्तु आपकी सभाओं में सभी श्रोता अन्त तक रुके रहते हैं, प्रफुल्लित रहते हैं, आपका प्रवचन पूर्ण हो जाता है तब भी रुके-से रहते हैं जबकि उनसे रुकने की कोई प्रार्थना नहीं की जाती है। इसका क्या कारण है?”

आचार्यश्री बोले— “मैंने सभाशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया है और मैं श्रोताओं की मानसिकता को भलीभाँति समझता हूँ। उनकी नाड़ी सदा मेरे हाथ में होती है। वे जिसे समझ नहीं सकें— ऐसा गूढ़-गम्भीर विषय मैं उनको नहीं समझाता, इधर-उधर की बात भी नहीं करता और अधिक देर तक भी नहीं बोलता। मैं इस बात में भी विश्वास करता हूँ कि भाषण हमेशा गन्ने जैसा होना चाहिए, बाँस जैसा नहीं। बाँस जैसा भाषण लम्बा तो होता है, पर एकदम नीरस एवं निःसार; गन्ने जैसा भाषण छोटा होता है, पर अत्यन्त सरस एवं सारगर्भित होता है।”

5. मैं तो समयसार को छोड़कर दूसरा कुछ नहीं पढ़ता

एक बार की बात है। आचार्यश्री ने मुझे एक संस्था के समारोह में सम्मिलित होकर 10 मिनट भाषण देने के लिए भेजा। वहाँ मुझे 5-6 नई पुस्तकें भेंट में प्राप्त हुईं। वे सभी सुन्दर रूप में अच्छा पैसा खर्च करके छपाई गई थीं। मैंने वे सभी पुस्तकें आचार्यश्री को दीं, तो उन्होंने एक नजर में देखकर ही उनको छोड़ दिया। कहने लगे— “देखो ! मैं तो बस एक समयसार को छोड़कर दूसरा कुछ नहीं पढ़ता।”

मैं सोचने लगा— अरे ! ये तो रात-दिन दुनिया भर के शास्त्र पढ़ते रहते हैं और अब कह रहे हैं कि मैं तो बस एक समयसार को छोड़कर दूसरा कुछ नहीं पढ़ता। यह क्या बात है?

पर शीघ्र ही मेरे अन्तर्मन से आवाज आई— हाँ, यही सत्य है कि ये तो बस एक समयसार को छोड़कर दूसरा कुछ नहीं पढ़ते; भले ही रात-दिन दुनिया भर का कितना ही कुछ भी क्यों न पढ़ते हों। भाषा, लिपि, पुराण, इतिहास, पुरातत्त्व, वेद, उपनिषद् आदि सब कुछ पढ़ते हुए भी ये तो सचमुच एक समयसार को ही पढ़ते हैं; उसे छोड़कर दूसरा कुछ नहीं पढ़ते। काश, यह रहस्य हमारी समझ में भी आ जाए।

6. एक प्रश्न : एक उत्तर

एक बार एक दिल्ली कोर्ट की महिला वकील आचार्यश्री के दर्शनार्थ आई। आचार्यश्री ने सहज ही थोड़ा-बहुत ‘स्वाध्याय’ (धर्मग्रन्थों का अध्ययन) करने की भी उनको प्रेरणा दी। वकील साहिबा बोली— “हाँ महाराज जी ! अब थोड़ा-बहुत स्वाध्याय भी आपकी प्रेरणा से करने लगी हूँ। पिछली बार आपने एक पुस्तक दी थी, मैंने उसे भी पढ़ लिया है।”

आचार्यश्री ने पूछा— “कैसी लगी?”

महिला वकील— “बहुत अच्छी लगी। बहुत अच्छी-अच्छी बातें लिखी हुई हैं उसमें। बहुत ही मन लगा, परन्तु उसमें एक बात समझ में नहीं आई।”

आचार्यश्री— “क्या?”

महिला वकील— “उसमें एक जगह लिखा था कि महामुनियों के शरीर के पसीना, मल, मूत्र आदि भी औषध के समान होते हैं।”

आचार्यश्री— देखो! तुम इतनी आधुनिक हो, फिर भी कुछ नहीं जानती। दुनिया की प्रायः सब ओषधियाँ ऐसी ही तो हैं। गाय का मूत्र जब औषध हो सकता है, चूहे की विष्टा औषध हो सकती है तो महामुनियों के पसीनादि औषध हों—इसमें क्या आश्चर्य है? जिस शहद को दुनिया औषध कहती है वह क्या है? मधुमक्खियों का वमन ही तो है। महाराष्ट्र में आज भी बन्दर की जूठी इमली खिलाकर बच्चों की खोंसी ठीक की जाती है। इसी प्रकार की और भी बहुत-सी बातें हैं, क्या-क्या कहें?”

आचार्यश्री के इस वैज्ञानिक समाधान से वह महिला वकील बहुत ही सन्तुष्ट एवं प्रसन्न होकर घर लौटी। मुझे विश्वास है, अब वह और अधिक स्वाध्याय करने लगी होगी।

7. एक-एक शब्द आगम के आधार पर होना चाहिए

आचार्यश्री की पावन सन्निधि में अनेक साधु-साधवियों ने शास्त्रों का गूढ़ अध्ययन किया है। यह बात तब की है, जब कि कनकोज्ज्वलनन्दिजी (अब आचार्य श्रुतसागरजी)

उनके पास अध्ययन कर रहे थे। एक दिन प्रातःकालीन बेला में मैंने देखा— आचार्यश्री अपने हृदय की गहराइयों से मुनिश्री को समझा रहे थे, उन्हें हार्दिक प्रेरणा प्रदान कर रहे थे— “देखो महाराजजी! मेरा आपसे एक ही खास कहना है कि कभी एक हुरफ-पाई भी आगम को छोड़कर मत बोलना। हमारे व्याख्यान का एक-एक शब्द आगम के आधार पर होना चाहिए। जिसप्रकार न्यायाधीश कदम-कदम पर ‘भारतीय दण्ड संहिता की धारा नम्बर अमुक के तहत’ —इसप्रकार कहता चलता है, उसीप्रकार हमारे व्याख्यान का भी हर कथन शास्त्रसम्मत होना चाहिए, मनमाना नहीं। आज बहुत लोग निराधार या मनमाना बोलने लगे हैं, जो ठीक नहीं है।”

काश, आज के सभी साधु-साध्वी और अन्य जिनवाणी के विद्वान् वक्ता भी उनकी इस महत्वपूर्ण शिक्षा को अच्छी प्रकार से अपने जीवन में उतार लें।

8. महानुभाव

जिन लोगों ने आचार्यश्री का एक भी प्रवचन सुना है, वे जानते हैं कि आचार्यश्री श्रोताओं को ‘महानुभाव’ शब्द से सम्बोधित करते हैं। एक बार की बात है कि मैंने अवसर पाकर आचार्यश्री से पूछ लिया— “आचार्यश्री ! आप सभा में लोगों को ‘महानुभाव’ शब्द से सम्बोधित करते हैं, उसका क्या अभिप्राय है?”

“एक मिनट रुको”— वे बोले और तुरन्त उठकर अपनी एक डायरी लेकर आये। उसका सम्बन्धित पृष्ठ खोलकर मुझे दिखाया और बोले— “इसे पढ़ो।”

मैं थोड़ी देर तक उसे शान्तिपूर्वक पढ़ता रहा और दंग रह गया। वहाँ आचार्यश्री ने अपनी सुन्दर लेखनी से प्राकृत-संस्कृत-ग्रन्थों के अनेक ऐसे कथन उद्धृत कर लिख रखे थे, जिनमें ‘महानुभाव’ शब्द का प्रयोग हुआ था। यथा—

(क) “तुसमासं घासंतो, भावविसुद्धो महानुभावो य ।
णामेण य सिवभूदी, केवलणाणी फुडं जादो॥”

यह आचार्य कुन्दकुन्द कृत भावपाहुड की 53वीं गाथा है। इसमें कहा गया है कि ‘महानुभाव’ शिवभूति तुष-माष-भिन्नं रटते हुए ही केवलज्ञानी हो गए।

(ख) “अर्हच्चरणसपर्या, महानुभावं महात्मनावदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः, कुसुमेनैकेन राजगृहे॥”

यह श्लोक आचार्य समन्तभद्र कृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार का है। इसमें उस मेंढक को ‘महानुभाव’ कहा गया है, जो एक पुष्प लेकर उत्साहपूर्वक जिनेन्द्र-पूजा हेतु जा रहा था, पर मार्ग में हाथी के पैर तले दब गया।

(ग) “मज्जहिं विहवहिं ण महानुभाव”— यह विबुध श्रीधर कृत ‘वड्ढमाण-चरित’ का कथन है। इसमें उन पुरुषों को ‘महानुभाव’ कहा गया है जो अपार वैभव-सम्पत्ति पाकर भी उसका अभिमान नहीं करते हैं।

(घ) “देवाधिदेव परमेश्वर वीतराग! सर्वज्ञ तीर्थकर सिद्ध महानुभाव!
त्रैलोक्यनाथ जिनपुंगव वर्धमान! स्वामिन्! गतोऽस्मि शरणं चरणद्वयं ते ॥”
इसमें आचार्य पूज्यपाद ने भगवान महावीर को ‘महानुभाव’ कहा है।

जब मैं उक्त सभी छन्दों को पढ़ चुका तो उन्होंने मुझसे पूछा— “समझ में आया कुछ?”

मैं बिना कुछ बोले हर्षित भाव से उनकी मुखमुद्रा निहारने लगा। वे स्वयं ही आगे बोले— “देखो! जिसके भाव अच्छे हों, वही ‘महानुभाव’ है। मैं अपनी सभा में ‘महानुभाव’ कहकर इसीलिए सम्बोधित करता हूँ कि जिनवाणी की यह परमहितकारी बात उसी व्यक्ति की समझ में आ सकती है जो महानुभाव हो, जिसके भाव अच्छे हों। बाह्य संयोगों की अधिकता-हीनता का यहाँ कोई महत्त्व नहीं है। तथा अन्य सांसारिक सम्बोधनों (यथा— भाइयो, बहनो, सेठजी, आदि) से हमें कोई प्रयोजन नहीं। लौकिक सम्बोधनों में छोटा-बड़ापन भी झलकता है; जबकि धर्मसभा में कोई छोटा-बड़ा नहीं होता, सभी समान होते हैं। ‘महानुभाव’ शब्द का प्रयोग हमारे आचार्यों ने कितने समान भाव से किया है— यह भी गंभीरतापूर्वक समझने की बात है। महावीर भी महानुभाव हैं, मुनि एवं आचार्य भी महानुभाव हैं तथा मेंढक भी महानुभाव है।”

आचार्यश्री का उत्तर पाकर मुझे पुनः गहराई से अनुभव हुआ कि महापुरुषों की छोटी-सी क्रिया में भी महान् अर्थ छिपा होता है।

9. साड़ी सफेद ही क्यों?

धर्मानुरागी श्राविकाएँ, क्षुल्लिकाएँ और आर्यिकाएँ— ये सभी सफेद साड़ी धारण करती हैं। एक बार एक सज्जन ने आचार्यश्री से प्रश्न किया— “आचार्यश्री! ये व्रती स्त्रियाँ सफेद साड़ी ही क्यों पहनती हैं, जो कि बहुत जल्दी गन्दी होती है? यदि वे सफेद के स्थान पर किसी अन्य गहरे रंग की पहनें तो वह कम गन्दी होगी और उसे धोने आदि का हिंसारम्भादि भी कम करना पड़ेगा।”

आचार्यश्री का उत्तर सदैव स्मरण रखने योग्य है— “व्रती स्त्रियाँ इसीलिए सफेद साड़ी पहनती हैं, क्योंकि वह बहुत जल्दी गन्दी होती है और इससे सदा शिक्षा देती रहती है कि बहुत सम्भल कर रहो। जब यह बाहर की साड़ी ही जरा-सी लापरवाही से गन्दी हो जाती है तो अन्दर का मन, उपयोग तो और भी जल्दी गन्दा होता है, अतः बहुत सावधानीपूर्वक जीवन-यापन करो, पल-पल अपने परिणामों की रक्षा करते रहो।”

10. विश्वधर्म की जय-

एक बार मैंने आचार्यश्री से पूछा— “आप विश्वधर्म की जय क्यों बोलते हैं? विश्व के सभी धर्मों की जय कैसे बोली जा सकती है? उनमें तो परस्पर विरुद्ध बातें कही गई हैं। विश्व के कतिपय धर्मों में तो हिंसादि की भी बातें भरी हुई हैं कि उनकी

कदापि जय नहीं बोली जा सकती।”

आचार्यश्री ने समझाया— “पहले भी अनेक बार ऐसा प्रश्न मेरे समक्ष आ चुका है तथा तुम तो समझने की भावना से अच्छे ढंग से पूछ रहे हो, पर अनेक लोगों ने तो बिना कुछ समझे-बूझे मेरा घोर विरोध भी किया है इस बात पर। जबकि मैं अनेक बार सभा में स्पष्टीकरण भी दे चुका हूँ। देखो ! मैं विश्वधर्मों की जय नहीं बोलता, विश्वधर्म की जय बोलता हूँ। सदा एकवचन का ही प्रयोग करता हूँ, बहुवचन का नहीं, क्योंकि धर्म एक ही होता है— **वत्थुसहावो धम्मो**— वस्तु का स्वभाव धर्म है तथा वह धर्म किसी व्यक्ति, जाति, देश, भाषा आदि की सीमाओं में बँधा नहीं होता, सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होता है, वह कभी किसी के साथ कोई पक्षपात नहीं करता। जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र, तारे, अग्नि, जल आदि सभी वस्तुएँ हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि का भेद न करके सबका समान भाव से उपकार करते हैं, उसी प्रकार धर्म भी समान भाव से सबका हित करता है। धर्म की ऐसी उदारता और विशालता को समझाने के लिए ही मैं विश्वधर्म की जय बोलता हूँ। तथा अनेक पूर्ववर्ती जैनाचार्यों ने भी इस प्रकार के कथन किये हैं। यथा—

- (क) यो विश्वं वेद-वेद्यं जननजलनिधेर्भगिनः पारदृश्व।
 पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम् ॥
 तं वन्दे साधुवंदं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तं ।
 बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ॥ —अकलंकस्तोत्र, 9
- (ख) जिसने राग-द्वेष-कामादिक जीते, सब जग जान लिया।
 सब जीवों को मोक्षमार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया ॥
 बुद्ध, वीर, जिन, हरि हर ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो।
 भक्तिभाव से प्रेरित हो यह, चित्त उसी में लीन रहो ॥ —मेरी भावना
- (ग) ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये । —तत्त्वार्थसूत्र

11. धर्म को सब मानते हैं

एक बार की बात है, आचार्यश्री दरियागंज के बालाश्रम भवन में विराजमान थे। वहाँ जापान के कुछ बुद्धिजीवियों का एक दल आचार्यश्री के दर्शनार्थ आया। मध्यवर्ती व्यक्ति ने निवेदन किया— आचार्यश्री! इन्हें थोड़ा धर्म का उपदेश दीजिए।

तभी बीच में एक जापानी व्यक्ति ने कहा— हम धर्म को नहीं मानते हैं, हमारी धर्म पर कोई श्रद्धा नहीं है।

आचार्यश्री ने उससे पूछा— एक बात बताओ, यदि कोई आपको गाली दे, मारे-पीटे तो आपको कैसा लगेगा?

जापानी व्यक्ति— बुरा लगेगा।

आचार्यश्री— और उसके बाद यदि कोई दूसरा व्यक्ति आप से प्रेमपूर्वक बात करे, आपकी चोट पर औषध आदि लगाये तो आपको कैसा लगेगा?

जापानी— अच्छा लगेगा।

आचार्यश्री— बस, यही तो धर्म-अधर्म का स्वरूप है। जो जीव को सुख पहुँचावे वही धर्म है और जो दुःख पहुँचावे वही अधर्म है।

अरे, वाह! ऐसा धर्म-अधर्म तो हम भी मानते हैं। सभी जापानी हर्षित हो गये।

12. तीर्थकर ऋषभदेव की जय हो

आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज की धर्मसभा में कुछ बोलने से पूर्व मैं भी और लोगों की तरह उनकी जय बोल दिया करता था, किन्तु वे मुझे प्रायः टोकते रहते थे कि देखो, तुम मेरी जय मत बोला करो, केवल ऋषभदेव की ही जय बोला करो, उनकी जय में ही हमारी जय हो जाती है, हमारी अलग से जय बोलने की कोई आवश्यकता नहीं है। फिर भी मैं कभी-कभी उनकी जय बोल देता था। यही कारण है कि आचार्यश्री एक दिन अपने प्रवचन में ही सार्वजनिक रूप से कहने लगे— “क्या लोग हमारी जय बोलते रहते हैं, क्या रखा है इसमें, इससे ही तो हमारी समाज में आज बहुत अधिक व्यक्तिवाद आदि बढ़ गये हैं, हमें तो केवल तीर्थकर ऋषभदेव की ही जय बोलना चाहिए, उसी में हम सबकी जय है, **सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः**—जिसप्रकार हाथी के पैर में सबके पैर समा जाते हैं, उसीप्रकार ऋषभदेव में हम सब समा जाते हैं, हम सब आज ऋषभदेव के कारण ही जीवित हैं, उन्हीं ने असंख्य वर्ष पूर्व जो धर्मरथ प्रवर्तित किया था, हम सब उसी के घोड़े हैं, बोलो प्रथम तीर्थकर देवाधिदेव भगवान ऋषभदेव की जय!” मुझे याद है, उस दिन पूरी सभा तीर्थकर ऋषभदेव के जयकारों से गूँज उठी थी।

13. प्राकृतभाषा-दिवस की घोषणा

सन् 1994 की बात है। श्रुतपंचमी के पावन अवसर पर आचार्यश्री के सान्निध्य में कुन्दकुन्द भारती में प्राकृत भाषा विषयक विद्वत्संगोष्ठी एवं कवि-सम्मेलन का त्रिदिवसीय कार्यक्रम आयोजित किया गया। सभी विद्वान् प्राकृत भाषा के महत्त्व पर प्रकाश डाल रहे थे, उसकी घोर उपेक्षा पर चिन्ता व्यक्त कर रहे थे और उसके विकास की ओर समाज एवं सरकार का ध्यान आकर्षित करने के लिए आचार्यश्री का आभार भी व्यक्त कर रहे थे। तभी वाराणसी के प्रो. (डॉ.) फूलचन्द्र जैन प्रेमी ने प्रस्ताव दिया कि प्रतिवर्ष श्रुतपंचमी को प्राकृतभाषा-दिवस के रूप में मनाया जाए। जैसे ही इस प्रस्ताव का अन्य विद्वानों ने समर्थन किया, आचार्यश्री ने अपने मुख से इसकी घोषणा कर दी कि अब हमेशा श्रुतपंचमी को प्राकृतभाषा-दिवस के रूप में मनाया जाएगा। सभा करतल-ध्वनि से गूँज उठी। ❖❖

आचार्यश्री की प्रिय सूक्तियाँ

1. हतं ज्ञानं क्रियाहीनम्।
क्रियाहीन ज्ञान व्यर्थ है।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/1
2. ज्ञानात् त्यागस्त्यागात् शान्तिः।
ज्ञान से त्याग होता है और त्याग से शांति।
—पंचाध्यायी
3. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
ज्ञान के समान पवित्र कहीं कुछ नहीं है।
—गीता
4. सत्संगः स्वर्गवासः।
सत्संग तो स्वर्ग का वास है।
—चाणक्य-नीति
5. धर्मध्यानपरो नरो प्रतिदिनं स स्यात् सदाऽऽरोग्यवान्।
प्रतिदिन धर्मध्यान में तत्पर रहनेवाला सदा नीरोग रहता है।
—मंगलाष्टक
6. विद्या-भेषज-मन्त्र-तोय-हवनैर्यान्ति प्रशान्तिं बुधाः।
ज्ञानी विद्या, औषध, मंत्र, जल, हवन आदि से दुःखों को शांत करते हैं।
—दशभक्ति
7. तत्त्वज्ञानविहीनानां दुःखमेव हि शाश्वतम्।
तत्त्वज्ञान से रहित पुरुष सदा दुःखी रहता है।
—क्षत्रचूड़ामणि, 6/2
8. संसारोऽपि हि सारः स्यात् दम्पत्योरेककण्ठयोः।
यदि पति-पत्नी एककण्ठ हैं तो उनका संसार भी कथंचित् सार है।
—क्षत्रचूड़ामणि, 9/35
9. ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्।
ध्यानरूपी अग्नि क्षण भर में सर्वकर्मों को भस्म कर डालती है।
10. किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या।
विद्या कल्पलता के समान है, जो क्या-क्या नहीं दे सकती?
11. श्रेयांसि बहुविघ्नानि।
अच्छे कर्मों में बहुत विघ्न आते हैं।
—क्षत्रचूड़ामणि, 2/13
12. सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च।
सुख, दुःख, जीवन, मरण— सभी जीव के उपकार हैं।
—तत्त्वार्थसूत्र, 5/20

13. वक्तुरेव हि तज्जाड्यं यत्र श्रोता न बुद्ध्यते ।
यह वक्ता की ही कमी है कि श्रोता कुछ समझ नहीं सके ।
14. अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य । —तत्त्वार्थसूत्र, 6/17
अल्प आरंभ और परिग्रह से मनुष्य आयु की प्राप्ति होती है ।
15. अलं काकसहस्रेभ्यो एक एव दृषद् भवेत् । —क्षत्रचूडामणि, 3/51
हजारों कौओं को उड़ाने के लिए एक ही कंकर पर्याप्त है ।
16. गुरुद्रव्यं गुणवत् ग्राह्यम् । —विषापहार स्तोत्र, 32
गुरु की वस्तु गुणकारी समझकर ग्रहण करनी चाहिए ।
17. केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम् ।
किसी भी उपाय से फल की सिद्धि करना चाहिए ।
18. उन्नतं मानसं यस्य भाष्यं तस्य समुन्नतम् ।
जिसका मन ऊँचा है, उसका भाष्य बहुत ऊँचा है ।
19. चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् ।
रागादि भावों से युक्त चित्त ही संसार है ।
20. न हि विषादो विधेयोऽत्र तद्धि वैदुष्यजं फलम् । —क्षत्रचूडामणि
विद्वत्ता का फल यही है कि कभी विषाद न किया जाए ।
21. लोकोऽयं नाट्यशाला । —त्रैवर्णिकाचार, 57
यह दुनिया नाटक के समान है ।
22. सर्वभाषा सरस्वती । —कातंत्र व्याकरण
सभी भाषाएँ सरस्वती हैं ।
23. आत्मैव गुरुरात्मनः । —इष्टोपदेश, 34
आत्मा ही आत्मा का गुरु है ।
24. मौनं सर्वार्थसाधकम् ।
मौन सर्व प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाला है ।
25. वृद्धा नारी ईश्वरी । —पद्मपुराण
वृद्धा स्त्री ईश्वर के समान होती है ।
26. अनुकरणप्रियाः शिष्याः/बालाः ।
शिष्य/बालक अपने गुरुजनों का अनुकरण करते हैं ।
27. स्पष्टवक्ता न वञ्चकः ।
स्पष्टवादी धोखा नहीं देता ।

28. परस्परपग्रहो जीवानाम् । —तत्त्वार्थसूत्र, 5/21
सभी जीव परस्पर एक-दूसरे का उपकार करते हैं ।
29. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थ हि ज्ञानम् । —परीक्षामुखसूत्र, 1/2
हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में ज्ञान ही समर्थ है ।
30. धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् । —पंचाध्यायी, 2/763
उत्तम धर्म शुद्धोपयोग है ।
31. ज्ञातुरभिप्रायो नयः । —न्यायदीपिका, 3/84
ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को नय कहते हैं ।
32. आत्माश्रितो निश्चयनयः पराश्रितो व्यवहारनयः । —आत्मख्याति, 272
आत्माश्रित निश्चयनय है, पराश्रित व्यवहारनय है ।
33. अविचलमेव वस्तुनिष्ठं ज्ञानं ध्यानमिष्यते । —भगवती आराधना, 1682 टीका
वस्तुनिष्ठ निश्चल ज्ञान को ही ध्यान कहते हैं ।
34. कर्तव्यमेव धर्मः ।
कर्तव्य ही धर्म है ।
35. आत्मग्राहकं दर्शनं, परग्राहकं ज्ञानम् । —द्रव्यसंग्रह, गाथा 44
दर्शनोपयोग आत्मग्राहक है और ज्ञानोपयोग परग्राहक है ।
36. एकः शरणं शुद्धोपयोगः । —प्रवचनसार, 78
शुद्धोपयोग ही एक मात्र शरण है ।
37. चेतनालक्षणो जीवः । —सर्वार्थसिद्धि
जीव का लक्षण चेतना है ।
38. ज्ञानामृतं भोजनम् । —भरतेश वैभव
ज्ञानरूपी अमृत ही आत्मा का भोजन है ।
39. शरीरं व्याधिमंदिरम् ।
शरीर व्याधियों का मंदिर है । (5,68,99,584 रोग)
40. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः । —पंचाध्यायी
एक ही देव (वृषभदेव) सब जगत में गूढ़ हैं ।
41. सूक्ष्मो भगवद् धर्मोः । —पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 79
भगवत् प्रणीत धर्म सूक्ष्म है ।
42. अनन्तज्ञानादि-शुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः । —धवला 1, पृ. 52
अनंत ज्ञानादि शुद्धात्मस्वरूप को जो साधता है वह साधु है ।
43. रत्नत्रयभावनाया स्वात्मानं साधयतीति साधुः । —प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा 252
रत्नत्रय की भावना से जो स्वात्मा को साधता है, वह साधु है ।

44. आस्तिक्यम् आत्मविश्वासः। —रश्मिमाला
जो आत्मा में विश्वास करता है वह आस्तिक है।
45. परमगाम्भीर्यं सहजा मूर्तिः।
राग रहित मुखमुद्रा ही परम वीतरागता है।
46. अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परम्। —स्वयंभूस्तोत्र, 119
अहिंसा ही जीवों का परमब्रह्म है— यह बात जगत् में विदित है, प्रसिद्ध है।
47. अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः। —ज्ञानार्णव, 8/32
अहिंसा ही जगत् की माता है और अहिंसा ही आनन्द का मार्ग है।
48. दानं पारम्पर्येण मोक्षकारणम्।
दान परम्परा से मोक्ष का कारण है।
49. गुरुं विना सर्वे भवन्ति पशुसन्निभाः। —भद्रबाहुचारित्र
गुरु के बिना सब पशुतुल्य हैं।
50. विज्ञानस्य फलं सर्वदुःखानां विलयो भवेत्।
विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) का फल सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति है।
51. जिनधर्मो जगद्बन्धुः। —सागार धर्मावृत, 2/71
जिनधर्मो जगत् का बन्धु है।
52. न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति। —गोमटसार-टीका
साधु पुरुष किए हुए उपकार को कभी नहीं भूलते।
53. सिद्धिरनेकान्तात्। —जैनेन्द्र प्रक्रिया, 1/2/1
अनेकान्त से ही सिद्धि मिलती है।
54. हेयोपादेयविज्ञानं नो चेत् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ। —क्षत्रचूडामणि, 2/44
यदि हेय और उपादेय का विज्ञान नहीं हुआ तो शास्त्र पढ़ना व्यर्थ है।
55. सत्त्वे सुद्धा हु सुद्धणया। —वृहद्द्रव्यसंग्रह, 13
शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध हैं।
56. समओ खलु निम्नलो अप्पा। —रयणसार, 158
निर्मल आत्मा की समयसार है।
57. नामूलमुच्यते किञ्चित्।
बिना आधार के कुछ भी नहीं कहना चाहिए।
58. न धर्मो धार्मिकैर्विना। —रत्नकरण्ड, 26
धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं रहता।



आचार्यश्री के अमृत-वचन

चाणक्य-नीति के दो श्लोक मुझे बहुत सारगर्भित प्रतीत होते हैं—

संसारकटुवृक्षस्य, द्वे फले अमृतोपमे।

सुभाषितं च सुस्वादु, संगतिः सुजने जने॥ —चाणक्य-नीति, 16/18

अर्थ— यह संसार एक कटु वृक्ष के समान है, किन्तु इसमें दो अमृतफल भी मिलते हैं— एक तो मधुर सुभाषित और दूसरा सज्जनों की संगति।

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्त्रं सुभाषितम्।

मूढैः पाषाणखण्डेषु, रत्नसंज्ञा विधीयते॥

—चाणक्य-नीति, 14/1

अर्थ— इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर वास्तव में तीन ही रत्न हैं— जल, अन्न और सुभाषित। मूर्ख अज्ञानी लोग ही पत्थर के टुकड़ों को रत्न कहते हैं।

चाणक्य-नीति के उक्त दोनों श्लोकों के सन्दर्भ में विचार किया जाए तो मुझे आचार्यश्री की पावन संगति भी लगभग 24 वर्ष तक प्राप्त हुई और साथ में उनके अमृत-वचन भी। आज उनके जन्म शताब्दी महोत्सव के अवसर पर मैं आपको उनके अमृत-वचनों का पूरा शतक सुनाना चाहता हूँ। आशा है, सभी का परमहित होगा। सभी अमृत-वचन सूत्रात्मक हैं और गंभीर चिन्तन-मनन की अपेक्षा रखते हैं। यथा—

- (1) मत टुकराओ, गले लगाओ, धर्म सिखाओ।
- (2) वाचन से पाचन महान है।
- (3) भाषण हमेशा गन्ने जैसा होना चाहिए, बाँस जैसा नहीं।
- (4) क्षमा को मात्र विचार नहीं, आचार भी बनाओ।
- (5) आशावादी पुण्यात्मा है और निराशावादी पापी।
- (6) जो सदा मुस्कराता रहे, वही धर्मात्मा है, ज्ञानी है।
- (7) सबको अपना धर्म पालने की स्वतंत्रता है, परन्तु दूसरों के धर्म की निन्दा नहीं करना चाहिए।
- (8) मौन से सर्व प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं— ‘मौनं सर्वार्थसाधकम्’।

- (9) भगवान समवशरण में कमल से भी ऊपर रहते हैं— इससे हमें समस्त परिग्रह से निर्लिप्त रहने की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।
- (10) धर्मध्यान थोड़ा हो तो भी अमृत के समान कल्याणकारी होता है— ‘पीयूषं न हि निःशेषं पिबन्नेव सुखायते।’—क्षत्रचूडामणि, 1/2
- (11) सैनिक को ‘शस्त्र’ और साधु को ‘शास्त्र’ सदैव अपने हाथ में रखना चाहिए। इसी में उनकी रक्षा है। अन्यथा दोनों का विनाश अवश्यंभावी है।
- (12) प्रातः जल्दी उठना चाहिए। जल्दी उठने से सूर्योदय की तरह भाग्योदय होता है।
- (13) आतंकवाद कहता है— मारो और मरो, अनेकान्तवाद कहता है— जियो और जीने दो।
- (14) अनेकान्तवाद का सरल अर्थ है— सबके साथ समन्वय की कला।
- (15) स्याद्वाद का सरल अर्थ है— पहले तोलो, फिर बोलो।
- (16) अपरिग्रह का सरल अर्थ है— अति लोभ खतरे की घंटी है।
- (17) आत्मानुशासन का सरल अर्थ है— स्वयं का स्वयं पर अनुशासन करो।
- (18) ‘शिक्षक’ शब्द का अर्थ है— शिष्ट, क्षमाशील और कर्मठ। ‘अध्यापक’ शब्द का भी अर्थ है— अध्ययनशील, ध्याननिष्ठ, पापभीरु और कर्तव्यनिष्ठ।
- (19) जो समय का पालन करना नहीं जानता, वह समयसार को कैसे जानेगा?
- (20) समयसार का सन्देश है कि जितना समय ‘समय’ (आत्मा) को दिया उतना ही सार है, बाकी सब असार है।
- (21) ‘वृद्धा नारी ईश्वरी।’ अर्थात् वृद्धा स्त्री भगवान के समान होती है।
- (22) मन को सदैव किसी-न-किसी सत्कार्य में व्यस्त रखो, क्योंकि जो व्यस्त है वह स्वस्थ है।
- (23) रोज घर, दुकान, कार, जूते, कपड़े आदि सभी वस्तुओं की सफाई करते हो, मन की सफाई के लिए भी तो पाँच-दस मिनट निकालो।
- (24) 24 घण्टे में कम से कम 24 मिनट तो धर्मध्यान के लिए अवश्य निकालना चाहिए। 10 मिनट स्वाध्याय, 10 मिनट भक्ति-पूजन और 4 मिनट ध्यान-सामायिक।
- (25) ज्ञान का फल प्रसन्नता है। ज्ञानी कभी दुःखी नहीं होता है, सदा मुस्कुराता रहता है।
- (26) विपद पड़े तो समता रखना, अरिहंत-सिद्ध को जपना।

- (27) जिसके आगे दुःख पिघल जायें वह ज्ञानी और जो दुःखों के आगे पिघल जाये वह अज्ञानी।
- (28) धर्म बढ़े तो धन बढ़े, धन बढ़ मन बढ़ जाय।
मन बढ़ते सब बढ़त है, बढ़त-बढ़त बढ़ जाय।।
- (29) धर्म घटे तो धन घटे, धन घट मन घट जाय।
मन घटते सब घटत है, घटत-घटत घट जाय।।
- (30) ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया एक-सी दिखती है, पर अन्तर देखिए— ज्ञानी मन्दिर में जाता है और दुकान पर उसे जाना पड़ता है। अज्ञानी दुकान पर जाता है और मन्दिर में उसे जाना पड़ता है।
- (31) धर्म का फल नकद (तत्काल) मिलता है, उधार नहीं। जिसका फल उधार (बाद में) मिले वह धर्म नहीं, वह तो कर्म है।
- (32) ‘उन्नतं मानसं यस्य भाग्यं तस्य समुन्नतम्।’
जिसका मन ऊँचा है, उसका भाग्य भी ऊँचा है।
- (33) कभी किसी काम को छोटा नहीं समझना चाहिए। जो आदमी झाड़ू लगाने को भी तैयार हो वही जीवन में सफल हो सकता है।
- (34) अध्यात्म का ज्ञान होना सभी के लिए जरूरी है, परन्तु खेद का विषय है कि आज अनेक साधुओं को भी अध्यात्म का ज्ञान नहीं है।
- (35) रोज चार रोटी पचाते हो, कभी किसी के दो शब्द भी पचाना सीखो।
- (36) जो पर के पीछे लगा, वही बरबाद हो गया। राम स्वर्ण-मृग के पीछे लगे, सीता को खो बैठे। रावण सीता के पीछे लगा, अपने प्राणों तक से हाथ धो बैठा।
- (37) ‘निःस्नेहो याति निर्वाणं स्नेहात् भवति बन्धनम्।’ अर्थात् राग ही बन्ध का कारण है, राग-रहित (वीतराग) को तो निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।
- (38) ‘संसारोऽपि सारः स्यात् दम्पत्योरेककण्ठयोः।’
यदि पति-पत्नी एककण्ठ हैं तो संसार भी कथंचित् सारभूत है।
- (39) दया धर्म का मूल है, मन में शुद्ध विचार।
दीन हीन का दुख हरे, बनकर परम उदार।।
- (40) भगवान बाहुबली की मूर्ति शिक्षा देती है कि जो माँ-बाप अपने बच्चों को अपने पैरों पर खड़ा कर दें वे ही धन्य हैं।
- (41) तराजू के एक पलड़े में सारा पृथ्वीमंडल रखो और दूसरे में अकेला समयसार

तो भी समयसार ही भारी पड़ेगा।

- (42) भजन के बाद ही भोजन अच्छा लगता है।
- (43) क्षमा करनेवाला सुख की नींद सोता है, अक्षमावान की रात्रि जागरण में जलते बीतती है।
- (44) चींटी बनकर चीनी खाओ, हाथी बनकर गन्ने का खेत मत उजाड़ो।
- (45) ‘अनुकरणप्रिया: शिष्या: / बाला:।’ अर्थात् शिष्य गुरु का अनुकरण करते हैं अतः गुरु को सदाचारी ही होना चाहिए। बालक भी माता-पिता का अनुकरण करते हैं, अतः माता-पिता की भी बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है।
- (46) पार्श्वनाथ और कमठ के जीवन-चरित्र को पढ़कर यह निर्णय करना चाहिए कि मुझे पार्श्वनाथ के पार्श्व में बैठना है या कमठ के मठ में।
- (47) कभी किसी को दुःखी नहीं करना चाहिए, चाहे वह कोई भी हो, छोटा ही हो; क्योंकि ऐसा करने से उसके हृदय से बददुआ निकलती है जिससे हमारा बड़ा नुकसान हो सकता है।
- (48) ‘स्पष्टवक्ता न वंचकः।’ स्पष्टवादी व्यक्ति तत्काल तो बुरा लग सकता है, पर वह ठगता नहीं।
- (49) अज्ञानी का गुरु बनने की बजाय ज्ञानी का शिष्य बनना अच्छा है।
- (50) धर्मात्मा वह है जो केवल अन्न खाकर जीवित नहीं रहता, अपितु सदा ज्ञानामृत का भोजन करता है— ‘ज्ञानामृतं भोजनम्।’
- (51) ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को सुख-शान्ति से रहने के लिए 5 शिक्षाएँ दी थीं— स्वतंत्रता, स्वच्छन्दता नहीं, स्वावलम्बन, स्वयं को ही बदलो, सदा प्रसन्न रहो।
- (52) ऋषभदेव आदि सभी महापुरुषों ने ‘सादा जीवन उच्च विचार’ की शिक्षा दी थी। सच में, ऊँचे विचारों के लिए जीवन में सादगी आवश्यक है।
- (53) समयसार माता के दूध के समान सुपाच्य है। उसे सभी को पढ़ना चाहिए।
- (54) श्रीकृष्ण भी दूसरों को (कौरव-पाण्डवों को) नहीं समझा सके, फिर हम किस पेड़ के पत्ते हैं? अतः दूसरों को सुधारने की चिन्ता छोड़कर अपना हित कर लेना चाहिए।
- (55) जिस प्रकार गाड़ी चलाते समय यदि आगे दीवार आ जाये तो हम गाड़ी से उतरकर दीवार को नहीं मोड़ने लगते, अपितु अपनी गाड़ी मोड़ लेते हैं; उसी प्रकार दूसरों को बदलने का चक्कर छोड़कर हमें स्वयं को बदल लेना चाहिए। यही सुख-शांति का मार्ग है।

- (56) अरे सुधारक जगत् के, चिन्ता मत कर यार।
तेरा मन ही जगत् है, पहले इसे सुधार।।
- (57) जो दूसरों को अपने हिसाब से चलाना चाहता है, वह एक प्रकार से आतंकवादी ही है— महामोहातंक.....।
- (58) छोटे लोग ही ऊपर बैठने की अभिलाषा करते हैं, बड़ों को ऊपर-नीचे से कोई फर्क नहीं पड़ता। देखो, अक्षर बड़े हैं फिर भी नीचे होते हैं और बिन्दी छोटी होती है फिर भी उनके ऊपर लगती है।
- (59) दिव्यध्वनि को दिव्यध्वनि इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह दिव्य अर्थों की ध्वननकर्त्री है। बाकी और कोई चमत्कार जैसी बात नहीं है।
- (60) व्रत-उपवास, पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा आदि किसी भी बाह्य क्रिया का आलम्बन तो, पर उसका एक ही फल ‘परिणामशुद्धि’ होना चाहिए— ‘केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम्।’
- (61) सम्यग्दर्शन, संयम, तप, ध्यान आदि सभी धर्मभावों को दोनों प्रकार से कहा जा सकता है— सहजसाध्य भी और यत्नसाध्य भी। तीर्थंकर जैसे कुछ महापुरुषों के लिए सब कुछ सहजसाध्य होता है और प्राथमिक जीवों के लिए सब कुछ यत्नसाध्य होता है।
- (62) शास्त्रों के एक-एक शब्द में बहुत गहरे भाव भरे होते हैं। स्वाध्यायी जनों को, खासकर वक्ताओं को तो रोज ही एक-एक शब्द को गूढ़ विश्लेषण करके समझने की कोशिश करनी चाहिए।
- (63) “कोषस्येव महीपानां कोशस्य विदुषामपि।
उपयोगो महान् यस्मात्क्लेशस्तेन विना भवेत्।।”
जिसप्रकार राजा के पास ‘कोष’ नहीं हो तो वह कष्ट में पड़ जाता है, उसी प्रकार विद्वान् (वक्ता/लेखक) के पास कोश (शब्दकोश) न हो तो वह कष्ट में पड़ जाता है।
- (64) जिस स्त्री के पास बाल न हों वह जूड़ा नहीं बना सकती, उसी प्रकार जिस व्यक्ति के पास शब्द-भण्डार न हो वह अच्छा वक्ता या लेखक नहीं बन सकता।
- (65) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— इन चारों नामों को हम अच्छी भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं— 1. भूदेवता, 2. भूस्वामी, 3. भूकुबेर, 4. भूसेवक।
- (66) अण्णोण उवयारेण जीवा। परस्परपग्रहो जीवानाम्।
बिना सहकार, नहीं उद्धार।

- (67) आचार्य शान्तिसागरजी महाराज कहते थे कि चलते समय दूसरों से हटने की मत कहो, स्वयं बचकर चलो। यह बड़े काम की बात है।
- (68) ‘जेनूं काम तेनाथी थाय, बीजूं करे तो गोता खाय।’
जो काम जिसका है, उसी से हो सकता है, दूसरा नहीं कर सकता।
- (69) क्षेत्रपाल-पद्मावती को पूजो मत, पर उनकी निन्दा मत करो। जिनधर्म की प्रभावना में उनका बड़ा योगदान रहा है, अतः उनके प्रति कृतज्ञता का भाव रखो। दुनिया में सामान्य लोग उनकी पूजा करते हैं, परन्तु सम्यक्दृष्टि ब्रती-संयमी को तो दोष लगता है।
- (70) चूहे के पास न घर है, न दुकान; न कपड़ा, न बैंक बैलेंस; न शादी-ब्याह और न बेटा-बेटी; फिर भी वह संसारी है, क्योंकि चित्त में मोह-राग-द्वेष भरे हैं। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति हो, चाहे वह ध्यानमग्न ही रहता हो, किन्तु यदि उसका चित्त मोह-राग-द्वेष-युक्त है तो वह संसारी है—‘चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।’
- (71) इतिहास साक्षी है कि गलत लोगों के हाथ देश का शासनसूत्र लग जाने से अनेक देश बरबाद हो चुके हैं, अतः मतदाताओं को सोच-समझकर अपना मत अच्छे/उदार व्यक्ति को ही देना चाहिए।
- (72) देश की समृद्धि या महानता के सूचक ऊँचे भवन और महंगे मार्ग (रोड) आदि नहीं होते, अपितु पढ़े-लिखे सभ्य सुसंस्कृत नागरिक होते हैं।
- (73) मन्दिर जाकर हमें अपने आत्मस्वरूप का अनुसन्धान करना चाहिए, यही सच्ची भक्ति है— ‘स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।’
- (74) दुनिया के सभी धर्मों में से जैनदर्शन की विशेषता है— पूर्ण स्वतंत्रता और स्वावलंबन।
- (75) जो व्यक्ति अरिहंत देव की दृढ़ श्रद्धा रखता है और शुद्ध शाकाहारी है वह पक्का जैन है।
- (76) जैनदर्शन निर्ग्रन्थ है— इसका अर्थ यह भी है कि दुनिया के सभी धर्म अपने-अपने ग्रन्थ-विशेषों से बँधे हुए हैं, पर जैनदर्शन किसी ग्रन्थ-विशेष से नहीं बँधा है।
- (77) समाज में दो प्रकार के लोग पाये जाते हैं— 1. कैची-जैसे और 2. सुई-धागा जैसे। कैची जैसे हमेशा काटने का काम करते रहते हैं और सुई धागा-जैसे हमेशा जोड़ने का काम करते रहते हैं। ध्यान रखना, हमें कैची-जैसे नहीं, सुई धागा-जैसे बनना है।
- (78) जिनवाणी के वक्ताओं को सामाजिक दृष्टि से भी बहुत सोच-समझकर

अपनी जबान चलानी चाहिए। हम अल्पसंख्यक हैं, हमें दूसरों की आस्था पर चोट पहुँचाने वाले कोई शब्द सभा में नहीं कहने चाहिए। अन्यथा कभी भी हमारी समाज पर भयानक संकट आ सकता है। पहले अनेक बार आया है। इतिहास इसका साक्षी है।

- (79) संगीत में महान शक्ति है। हमें प्रतिदिन थोड़ी देर अच्छा संगीत अवश्य गाना या सुनना चाहिए। इससे सम्पूर्ण तनाव दूर होकर अच्छे कार्यों में चित्त एकाग्र होता है।
- (80) श्रावकों के जीवन में मन्दिर का बड़ा भारी महत्त्व है। मन्दिर का कार्य घर में नहीं हो सकता है। घर ममता का प्रतीक है और मन्दिर समता का।
- (81) बच्चों को जन्म देना ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें अच्छे संस्कार भी देना चाहिए। इस कार्य में माताओं की बहुत बड़ी भूमिका होती है, क्योंकि एक अच्छी मां 100 शिक्षकों से भी बढ़कर कही गई है— A good mother is better than hundred teachers.
- (82) सामाजिक संगठन के लिए भी मन्दिर की बड़ी उपयोगिता है। जिसप्रकार किसी एक स्थान पर गुड़ की भेली रख दी जाए तो चारों ओर की चींटी-मक्खी वहीं आकर इकट्ठी हो जाती हैं, उसी प्रकार किसी स्थान पर मन्दिर बनाओ तो चारों ओर से सिमटकर सारी समाज वहीं आ बसती है।
- (83) समाज में छोटे से बड़े तक सभी का अपना-अपना यथायोग्य स्थान होता है। किसी एक ही व्यक्ति के सहारे समाज नहीं चलता। क्या कहीं एक स्तम्भ पर पूरा महल खड़ा हो सकता है?
- (84) समाज में एकता का वातावरण होना बहुत जरूरी है। हमारे किसी से मतभेद हो सकते हैं, पर मनभेद नहीं होने चाहिए।
- (85) प्राकृतभाषा हमारी मातृभाषा है। यदि हमने इसकी रक्षा नहीं की, आने वाली पीढ़ियों को इसकी शिक्षा नहीं दी तो हम जिन्दा नहीं रह सकेंगे।
- (86) यदि हमारे पास चार रोटी है तो ही हम एक रोटी दूसरे को दे सकते हैं, यदि स्वयं एम.ए. पढ़ रखा हो तो ही दूसरे को बी.ए. का पढ़ा सकते हैं, यदि स्वयं तैरना जानते हों तो ही दूसरे को तैरना सिखा सकते हैं। इसी प्रकार यदि स्वयं ने आत्मकल्याण किया हो तो ही दूसरे को कल्याण का मार्ग दिखा सकते हैं; परन्तु अपना कल्याण किये बिना दूसरों के कल्याण की बात सोचना भारी अज्ञानता है।
- (87) हर बात को शिथिलाचार कह देना उचित नहीं है, बहुत कुछ काल का प्रभाव होता है।

- (88) जो पड़ोसी से प्यार करता है वही धर्मात्मा है। जो पड़ोसी से द्वेष रखता है वह अपने धर्म की हँसी उड़वाता है।
- (89) धर्म तो आदर्श नागरिक बनाने की फैक्ट्री है। वह झगड़े नहीं कराता। कोई व्यक्ति यदि धर्म के नाम पर झगड़ा करे तो इसमें धर्म का क्या दोष है? अग्नि, पत्थर, शब्द आदि सभी का सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी।
- (90) संसार दुःखमय है। हमें इन दुःखों में भी काँटों में गुलाब की भाँति प्रसन्न रहने की कला सीखनी होगी।
- (91) 'दुःख भी मानव की सम्पत्ति है।' दुःख भी उपकारी है।
- (92) ज्ञान का फल आनन्द है, अतः जो हर परिस्थिति में मुस्कुराता है वह ज्ञानी है। ज्ञानी कभी दुःखी नहीं होता— 'न हि विषादो विधेयात्र तद्धि वैदुष्यजं फलम्।'
- (93) सिंहासन की छीना झपटी, तलवारों की भाषा।
अनादिकाल से चलती आई, अनंतकाल तक चलना।
इसमें वही सुखी है बन्धु, जो रहता हो ऐसे।
ज्यों काँटों में हो गुलाब, या कमल रहे पानी में जैसे।
- (94) संसार में सब कुछ मिलना सरल है, पर सत्संगति मिलना दुर्लभ है। सत्संगः स्वर्गवासः = सत्संग स्वर्ग में निवास करना है।
- (95) धन प्राप्त होना आसान है, पर उस धन का अच्छे कार्यों में लगना बड़े भाग्य से होता है।
- (96) 'ज्ञानात् त्यागः त्यागात् शान्तिः' = ज्ञान से त्याग होता है और त्याग से शांति प्राप्त होती है।
- (97) कुत्ते को पुरस्कार और मनुष्य को तिरस्कार— यह सिद्ध करता है कि पुण्य-पाप कुछ होते हैं।
- (98) जो मैं करता हूँ वह मत करो, जो मैं कहता हूँ वह करो।
- (99) प्रवचन सबको दो, पर वचन किसी को मत दो।
- (100) जो है जैनी नाम का, वह भी सबके काम का।
- (101) 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।' अर्थात् आचार-विहीन व्यक्ति को शास्त्र भी पवित्र नहीं कर सकते।
- (102) **हतं ज्ञानं क्रियाहीनम्।** अर्थात् क्रियाहीन ज्ञान व्यर्थ है।
- (103) शिक्षित नारी परिवार का ही नहीं, राष्ट्र का भी गौरव बढ़ाती है।
- (104) जैनदर्शन ज्ञान-प्रधान है, तत्त्वज्ञान-प्रधान है। तत्त्वज्ञान न हो तो जीव को सदा सर्वत्र दुःख ही दुःख है। ❖❖

सबसे शीतल वस्तु क्या है?

चन्दनं शीतलं लोके, चन्द्रनादपि चन्द्रमा ।

चन्द्रचन्दनयोर्मध्ये, शीतला साधुसंगतिः॥

नीतिशास्त्र का यह श्लोक आचार्यश्री को बहुत प्रिय था। वे इसे बारम्बार सुनाया करते थे और मुझे भी सभा में सुनाने को कहते थे। वे न केवल सुनाया करते थे, साथ में इसका अर्थ भी रस लेकर सुनाया करते थे। वह अर्थ संक्षेप में इस प्रकार है—

इस पृथ्वी पर सबसे शीतल वस्तु चन्दन है, परन्तु यदि आकाश को भी जोड़ लें तो चन्दन से भी अधिक शीतल वस्तु चन्द्रमा है। तथा यदि और भी आगे बढ़कर देखा जाए तो इस विश्व में चन्दन और चन्द्रमा दोनों से अधिक शीतल वस्तु साधु-संगति है।

साधु-संगति को सबसे शीतल क्यों कहा गया है—यह बात भी यहाँ बहुत सावधानी से समझने योग्य है। यह कोई चन्दन और चन्द्रमा जैसी शीतलता की बात नहीं है। जिसप्रकार चन्दन लगाने या चन्द्रमा के नीचे बैठने से शरीर को शीतलता मिलती है, शरीर की गर्मी दूर होती है, उसीप्रकार साधु के पास बैठने से भी शारीरिक शीतलता मिलती होगी—ऐसा नहीं है। साधु की संगति को तो यहाँ इसलिए सर्वाधिक शीतल कहा है क्योंकि उससे प्राणी को आध्यात्मिक शीतलता प्राप्त होती है और उसकी अनादिकालीन मोह की तपन दूर होती है। चन्दन और चन्द्रमा तो केवल बहिरंग ताप को मिटाकर शारीरिक शीतलता प्रदान करते हैं और वह भी थोड़ी-सी देर के लिए, किन्तु साधु-संगति से जीव का अन्तरंग मोहताप दूर होता है और उसे शाश्वत एवं आत्मिक शीतलता प्राप्त होती है। साधु-संगति की यही सबसे बड़ी विशेषता है और उपर्युक्त श्लोक में उसी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है।

आध्यात्मिक शीतलता को समझाने के लिए आचार्यश्री निम्नलिखित एक और श्लोक बहुत सुनाया करते थे, जिसे आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र में दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है—

न शीतलाश्चन्दनचन्द्रश्मयो, न गांगमम्भो न च हारयष्टयः।

यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः, शमाम्बुगर्भा शिशिरा विपश्चिताम् ॥

अर्थ— हे मुनिराज! आपकी निर्दोष वाणी ज्ञानियों को जैसी शीतलता प्रदान करती है, वैसी शीतलता जीव को चन्दन, चन्द्रमा, गंगाजल, मुक्ताहार आदि कुछ भी नहीं दे सकते हैं।

आचार्यश्री इस श्लोक के अर्थ को एक कहानी बनाकर बड़े ही रोचक ढंग से इसप्रकार समझाया करते थे—

एक बार आचार्य समन्तभद्र स्वामी वन में एक वृक्ष के नीचे अनेक भक्तों से घिरे हुए विराजमान थे और उन्होंने प्रश्न पूछा— बताओ इस दुनिया में सबसे शीतल वस्तु क्या है?

एक सेठजी बोले— गुरुदेव! चन्दन इस दुनिया में सबसे शीतल होता है।

एक किसान बोला— गुरुदेव! मेरी दृष्टि में तो वटवृक्ष की छाया सबसे शीतल होती है, क्योंकि मैं रोज दोपहर में खेत का काम करके उसी के नीचे विश्राम करता हूँ, बहुत अच्छी नींद आती है, सारी थकान उतर जाती है।

एक पण्डितजी बोले— नहीं गुरुदेव! गंगाजल ही इस दुनिया में सबसे शीतल होता है। मैं ज्येष्ठ मास में भी रोज सुबह उसमें डुबकी लगाता हूँ और दिनभर तरोताजा रहता हूँ।

सभा में राजा भी बैठा था, क्योंकि वह तो राजा ही था, गुरुदेव तो महाराज थे। वह बोला— गुरुदेव! मेरी दृष्टि में तो चाँदनी ही इस दुनिया में सबसे शीतल वस्तु है, क्योंकि मैं अपना राजकाज निपटाकर जब रात्रि को महल के ऊपर चाँदनी में बैठता हूँ तो सारा टेंशन दूर हो जाता है।

इसी प्रकार अनेक लोग बोल रहे थे और अनेक उत्तर आ रहे थे, किन्तु तभी क्षुल्लकजी ने भी कुछ कहने की आज्ञा माँगी और फिर बोले— गुरुदेव! इन सब लोगों ने जो-जो वस्तुएँ बताई हैं, वे सब क्वचित् कदाचित् कथंचित् शरीर को शीतलता देनेवाली तो कही जा सकती हैं, पर आत्मा को शीतलता प्रदान करनेवाली वस्तु तो जिनवाणी ही है, अतः परमार्थ से जिनवाणी ही इस दुनिया में सबसे शीतल वस्तु है।

गुरुदेव प्रसन्न हो गये। यही परम सत्य उत्तर था।

हम सब प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि एक व्यक्ति उक्त सर्व उपचार कर लेता है, गंगास्नान भी कर लेता है, चन्दन भी लगा लेता है, चाँदनी में भी बैठ जाता है तथा और भी अनेक आधुनिक युग के साधनों का भी उपयोग कर लेता है, एयरकंडीशन कमरे में डनलप के गद्दे आदि पर लेट जाता है, परन्तु यदि उसके मन में कषाय की अग्नि जल रही होती है तो वह पूरी रात छटपटाता रहता है, नींद नहीं आती है। तथा दूसरी ओर एक मुनिराज उक्त सब साधनों के बिना ही वन में, पहाड़ की चोटी पर, तपते सूर्य के नीचे, सिर पर सिंगड़ी जलती हो तो भी परमशान्त रहते हैं, उनके अन्तर में शीतलता का झरना झरता रहता है, क्योंकि उनके हृदय में जिनवाणी होती है। जिनवाणी ही इस दुनिया में सबसे शीतल वस्तु है। हम सबको भी सच्ची शीतलता प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन जिनवाणी का सेवन करना चाहिए।



